वर्ष १, अंक १०　　　　　　　　जून, १९६५

शायर

कार्यालय
१८-ए, महात्मा गाँधी मार्ग
इलाहाबाद—१
फ़ोन-३१०७　　तार-विश्व

इस अंक में.....

कहानी

नया ताज : अली अब्बास हुसैनी　८
किनारा न मिला : अनवर इनायत उल्लाह　२१
माँ : मुमताज़ मुफ़्ती　३६
स्याह रौशनी : अख़तर अन्सारी　५०
शरीफ़ज़ादी : सलीम ख़ाँ　५९
रवाज पाना तम्बाकू का (व्यंग) : अहमद जमाल पाशा　६५
फूल और काँटे : नाहीद आलम　६७
माश की दाल : अज़ीज़ुन्निसा　९०

धारावाहिक उपन्यास

ख़ुदा की बस्ती : शौकत सिद्दीक़ी　७६

काव्यधारा

गुलाब के आँसू : तिलोक चन्द 'महरूम', 'नज़ीर' बनारसी, सिकन्दर अली 'वज्द', 'सलाम' मछलीशहरी, 'अफ़क़र' मोहानी　६
ग़ज़लें : 'असर' लखनवी, 'शकील' बदायूनी　२०
ग़ज़लें (व्यंग) : शकूर बेग 'मिर्ज़ा'　३५
क़िताए—रूप-बहुरूप : अहमद नदीम क़ासिमी　५८

स्थायी-स्तम्भ

आपकी आवाज़ : पाठकों के पत्र　२
ख़बरें : साहित्यिक दुनिया की बातें　४
अपनी बात : सम्पादकीय　५
भाषा-दर्शन : ज़बानदाँ　७५
परिचय : मीर 'अनीस'　९९
पुरानी शराब : मीर 'अनीस' का मरसिया　१०२
नई किताबें : प्रो० एहतेशाम हुसैन　११०

एक प्रति : ७५ पैसे　वार्षिक : आठ रुपये

दिल्ली से प्रकाशित 'दिनमान' साप्ताहिक में भी कुछ बातों को लेकर 'ताज़ी कविता' के नाम से जो बहस छेड़ी गई है, उसके उत्तर में मुझे यही कहना है कि नयी कविता का अधिकांश जो प्रतिष्ठित हो चुका है, अब पुनरावृत्त के दोष से जर्जर हो रहा है। प्रतिष्ठित विधा की भाषा जब एक बार प्रामाणिक मान ली जाती है, उसके विम्ब, प्रतीक और लहजे स्थापित हो जाते हैं, तब उस भाषा के माध्यम से कोई भी नयी बात कहना कठिन हो जाता है। आज 'नयी कविता' में यह दोष स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। अनुभूतियों की अद्वितीयता और प्रामाणिकता दोनों एक प्रामाणिक भाषा के माध्यम से व्यक्त होने के कारण किसी भी प्रकार की 'नयी' या 'ताज़ी' संवेदना को व्यक्त करने में असमर्थ हैं। इसलिये 'ताज़ी कविता' उस ताज़गी की खोज में है, जो भावों की अद्वितीयता को स्थापित करने के लिये नयी भाषा का प्रयोग कर सके।

दूसरी बात 'ताज़ी कविता' के साथ यह है कि वह आज के यथार्थ और क्षणमुक्त सत्यों का वहन कर सके। आज वस्तुस्थिति यह है कि नयी या छायावादी या प्रयोगवादी कविता के नाम पर, जो कुछ लिखा जा रहा है, वह चिरपरिचित रूढ़ियों (motifs) का प्रदर्शन है, व्यवस्था नहीं। कभी-कभी साहित्य या कला में जब रूढ़ियाँ ही रह जाती हैं, तो अनुभूति पीछे छूट जाती है और नयापन समाप्त हो जाता है। आज की नयी कविता में व्यक्त, दर्द, आस्था, पीड़ा, क्लब या होटल, रेस्ट्राँ जो भी प्रयोग किया जाता है, वह केवल रूढ़ि के रूप में ही है, उसका कोई नया अद्वितीय संदर्भ नहीं बन पाता। इन रूढ़ियों से उबरने की आग ही ताज़गी की माँग है।

तीसरी बात ताज़ी कविता के साथ यह है कि वह 'रागात्मक ऐश्वर्य' की अपेक्षा तटस्थ भोग के सिद्धान्त को काव्य और कला के लिये आवश्यक समझती है। भावुकता के आवेश से अधिक मूल्यवान थिराई हुई अनुभूति है। नयी कविता की भावुकता एक प्रकार के अनर्गल 'रागात्मक ऐश्वर्य' से जड़ीभूत है। इस नितान्त लिजलिजी भावुकता की अपेक्षा वस्तुपरक दृष्टि विकसित हो सके तो शायद हिन्दी की काव्य-विधा को एक ताज़ी दृष्टि मिल जाय।

चौथी बात वर्जनाओं से मुक्त होने की भी है। साहित्य में जिस प्रकार रूढ़ियाँ तेज़ी से बढ़ती हैं, उसी प्रकार वर्जनायें भी प्रतिक्रिया में गठित होती जाती हैं। आज इन्हीं दो छोरों के बीच हिन्दी-काव्य का समूचा आन्दोलन घुट रहा है। सुमित्रानन्दन पंत का 'कला और बूढ़ा चाँद' यदि उसी घुटन का परिचायक है तो नयी कविता के बहुसंख्यक प्रकाशित संग्रह भी उसी के प्रमाण हैं। 'ताज़ी कविता' इस जड़ता की अवस्था से उबरने का संकल्प है।

पाँचवीं बात महान् के अगंभीर की अपेक्षा लघु की सार्थक संवेदना के प्रति जागरूकता 'ताज़ी कविता' के लिये आवश्यक है। आज प्रयोगवाद का अधिकांश इस दृष्टि से महान् का अगंभीर जीवन - दर्शन है । उसमें यथार्थ को खोल उढ़ा कर देखने की प्रवृत्ति है। नितान्त 'जिस्मानी प्यास' और 'आत्मा की बेचैनी' में कोई सीमा रेखा नहीं है। 'ताज़ी कविता' न तो जिस्मानी और न रूहानी दायरों को इस कृत्रिम दृष्टि से देखती है और न किसी अनर्गल तथ्य के सहारे अनुभूति की सार्थकता को प्रतिष्ठित करना चाहती है। वह इसीलिये भावुकता के पलायन की अपेक्षा एन्काउण्टर और रहस्यात्मकता की अपेक्षा जटिलता (Complexity) को मूल्य मानती है।

मैं समझता हूँ यदि इन पाँच बातों को दृष्टि में रखकर हिन्दी-काव्य की नवीनतम प्रवृत्ति पर बहस चलाई जाये तो 'नयी' और 'ताज़ी' का अन्तर स्पष्ट हो जायगा।

—लक्ष्मीकान्त वर्मा, इलाहाबाद।

'डगर' से मेरा पहला परिचय उसके 'होली-अंक' से हुआ। खुशक़िस्मती या बदक़िस्मती से मैं उर्दू का ही विद्यार्थी रहा हूँ। मेरे बच्चे अब उर्दू-लिपि नहीं जानते लेकिन जब से नागरी-लिपि में उर्दू की चीजें छपने लगी हैं, वह भी उसे देखकर दिलो-दिमाग़ ताज़ा करते हैं। मेरी छोटी बेटी ने जब मुझे 'डगर' की प्रति दिखाई तो मुझे बड़ी खुशी हुई। उर्दू का मेआरी और दिलचस्प रिसाला उसके जाने-माने लोगों के द्वारा निकले बड़ा ही अच्छा है। मैंने इस बीच सभी अंक इकट्ठा कर लिए हैं। 'नेहरू-विशेषांक' का तो जवाब ही नहीं। सिर्फ़ एक बात से मुझे बड़ी निराशा होती थी वह थी इसका मुद्रण और प्रकाशन। मई अंक देखकर किसी हद तक ग़म ग़लत हो गया। अब इसमें कोई खास कसर बाक़ी नहीं रह गई है। वैसे ख़ूब से ख़ूबतर की तलाश तो जारी रहना ही चाहिए।

इस अंक से आपने पत्रिका को दूसरे अन्दाज़ में ढाल दिया है। यहाँ तक कि 'स्थायी-स्तम्भों' में भी परिवर्तन कर दिया है। 'खबरें' पाकर बड़ी ख़ुशी हुई। अच्छा है कि अब उर्दू-दुनियाँ का आँखों देखा हाल भी मालूम होगा। इस बार की ख़बर में 'डगर' क्लब की स्थापना की खबर बड़ी मुबारक है, लेकिन इसकी क्या हैसियत होगी, यह समझ में न आया। इलाहाबाद के बाहर के लोग इस क्लब से किस रूप में सम्बन्ध रख सकेंगे। प्रो० आले अहमद 'सुरूर' ने इस अवसर पर जो बातें कहीं उनसे सभी लोग सहमत होंगे। आज उर्दू का विरोध करने वालों को अस्ल में अँग्रेज़ी का खतरा है। अगर उर्दू वाले भी उनके साथ होकर इस उजली नागन को अपने बच्चों के झूले से अलग कर सकें तो उर्दू का रास्ता ज़्यादा साफ़ होगा। हिन्दी को उसकी जगह मिल जाएगी तो उर्दू को भी उसकी जगह मिलेगी।

आखिर में एक बात और! आपने 'डगर' में पाठकों के अपने लिखने के लिए कोई कालम नहीं खोला है ('आप की आवाज़' से इसकी पूर्ति नहीं हो सकती) उनकी ज़िन्दगी की बातें पूरी सच्चाई और मासूमियत से आएँ तो दूसरों को भी दिलचस्पी होगी। आप इस पर अवश्य विचार करें।

—शमशेरबहादुर गौड़, फ़ैज़ाबाद।

उर्दू हमारी ज़बान है। इसे मुसलमानों की ही ज़बान कहना धोका देना है—श्रीमती पंडित का फ़ैस्ला।

ज़बान माँ की तरह बाइज़्ज़त है। उर्दू ऊपर से लादी हुई ज़बान नहीं है—चौधरी ब्रह्मप्रकाश।

एक ही रही!

पिछले दिनों इलाहाबाद में नवोदित साहित्यकारों ने एक काव्य-गोष्ठी की, जिसमें हिन्दी और उर्दू के कुछ शाएर शामिल हुए। एक नौजवान ने बड़े तकल्लुफ़ के साथ ग़ज़ल शुरू ही की थी कि कुछ लोगों ने शोर मचाया, "अरे भई! आपकी ग़ज़ल का क्या कहना इसे तो बहुत पहले 'अकबर' इलाहाबादी ने भी आपसे नक़्ल कर लिया था!"

नयी दिल्ली : २२, अप्रैल, ६५—उर्दू के दोस्तों और चाहने वालों के दरम्यान उर्दू के मस्अले पर ज़ोर देते हुए श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने एलान किया कि उर्दू हमारी ज़बान है। इसके बोलने वाले लाखों इन्सान पूरे मुल्क में फैले हुए हैं। यह सिर्फ़ मुसलमानों की ही ज़बान नहीं है। जो लोग ऐसा कहते हैं, धोका देते हैं।

[यह बातें उन्होंने अंजुमन तरक़्क़ी-उर्दू, दिल्ली स्टेट के जल्से की सदारत करते हुए कहीं। जल्से में उर्दू के प्रेमियों की एक बड़ी संख्या शामिल हुई। उन्होंने सर्व-सम्मति से पास करके प्रस्ताव द्वारा माँग की कि दिल्ली में उर्दू को स्थानीय और दूसरी सरकारी ज़बान की हैसियत दी जाय।]

श्रीमती पंडित ने अपनी बात का सिलसिला जारी रखते हुए साम्प्रदायिक मनोवृत्तियों की ज़ोरदार शब्दों में निन्दा की और कहा कि जो लोग कहते हैं कि चूंकि उर्दू बोलने वालों की ज्यादा तादाद मुसलमानों की है और मुसलमानों की तादाद कम है, इसलिए उर्दू की कोई फ़िक्र नहीं करनी चाहिए, वह मुल्क को धोका देते हैं। दूसरी अहम बात यह है कि हमारी एक सेक्यूलर स्टेट है। यहाँ पर कोई नागरिक पहले दर्जे का और कोई दूसरे दर्जे का नागरिक नहीं है। हमने दुनिया के सामने सेक्यूलरइज़्म को रखा है। हर इन्सान चाहे वह किसी धर्म, सभ्यता या भाषा से सम्बन्ध रखता हो, बराबर का दर्जा रखता है।
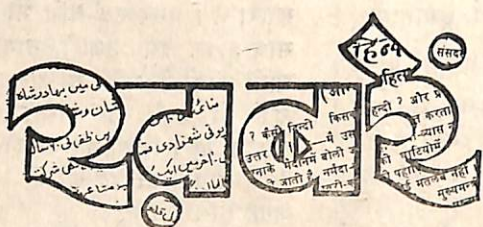
अकाली नेता श्री निर्मान सिंह ने श्रीमती पंडित की बातों की ताईद (समर्थन) करते हुए कहा कि उर्दू को मुसलमानों की ज़बान कहना ग़लती नहीं है, बल्कि एक सियासी चाल है। उन्होंने कहा कि भारत के सभी नेशलिस्ट नेता, चाहे वह सिख,

इगर

हिन्दू या मुसलमान हों, उर्दू को हिन्दुस्तान की ही एक ज़बान मानते हैं।

पंडित सुन्दरलाल ने कट्टर हिन्दी-विरोधी श्री राजगोपालाचार्य और डी० एम० के० के नेता स्वामी नायकर के साथ अपनी मुलाक़ातों का ज़िक्र करते हुए कहा कि दक्षिणी भारत में हिन्दी के विरुद्ध जो आन्दोलन है, उसकी एक वजह यह है भी कि उत्तरी भारत में उर्दू जैसी ज़बान के साथ इन्साफ़ नहीं हो सका है। उनके दिल में यह विश्वास जड़ पकड़ गया है कि हिन्दी वाले सिर्फ़ अपनी ज़बान की तरक़्क़ी चाहते हैं।

चौधरी ब्रह्मप्रकाश ने कहा कि उर्दू को उसका हक़ न दिये जाने पर एक हिन्दुस्तानी के नाते मुझे अफ़सोस है। उन्होंने कहा कि उर्दू इसी सरज़मीन की पैदावार है, दिल्ली की तहज़ीब का नाम ही उर्दू है। आज यह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा भी बन गई है और यह हमारे लिए सौभाग्य की बात है।

भारतीय साहित्यकारों की विदेश-यात्रा

पिछले दिनों भारतीय साहित्यकारों के प्रतिनिधि की हैसियत से डिमोक्रेटिक रिपब्लिक आफ़ जर्मनी के दावतनामे पर सर्वश्री सज्जाद ज़हीर, रज़िया सज्जाद ज़हीर, मुल्कराज आनन्द और अमृत राय विदेश गये। वह जर्मन जनता के साथ उनकी आज़ादी की सालगिरह में समिलित होंगे।

अपनी बात

इस २७ मई को राष्ट्र-नायक श्री जवाहरलाल नेहरू की पहली बरसी होगी। इस दिन श्री नेहरू की याद किस के दिल में न आएगी !

यह साल हमने बड़ी परीशानियों और मुसीबतों में काटा। ग़रीबी और मायूसी की लहर कुछ और तेज़ हुई और ग़ल्ले का इकट्ठा करना क़यामत हो गया। मुल्क-दुश्मनों को बग़लें बजाना का मौक़ा मिला और साधारणजन ने सोचा कि अगर नेहरू होते तो शायद यह मुसीबत न आती या कम आती। हम मुसीबतों के इस साल के ख़ात्मे के साथ उम्मीद भरी निगाहें आने वाले साल की स्वागत में बिछा रहे थे कि एक रूठे हुए भाई ने एक दुश्मन से साज़िश करके हम पर शबख़ून मारा। हम इसके लिये तैय्यार तो न थे लेकिन हमने उसके बुज़दिलाना हमले का रुख़ बदल दिया।

आइये आइन्दा आने वाले कल से उम्मीद ही करें कि हालात बेहतर ही होंगे।

जाफ़र रज़ा

तारी है दयारे-हिन्द पर आलमे-यास
गिरयाँ गंगो-जमन, हिमालय है उदास
क़िस्मत में वतन की, क्या लिक्खा है यारब
नेहरू भी गया गांधी-ओ-आज़ाद के पास

किसका मातम है आज दुनिया भर में
महशर है बपा ख़ला-ओ-बह्रो-बर में
हर दिल में बना लिया था घर नेहरू ने
ग़म उसका न किस लिए हो हर-इक घर में

● तिलोक चन्द 'महरूम'

वो गंगो-जमन की गोद वाला
मौजों की तरह रवाँ-दवाँ था
था सिन के लिहाज़ से तो बूढ़ा
अज़्म आख़िरी साँस तक जवाँ था

जो करके दिखा गये हैं सब को
वो हो न सकेगा अब किसी से
मौत आके पसीना पोंछती है
वो काम लिया है ज़िन्दगी से

हर दौर में आयेगा मुअर्रिख़
आ-आके उभारता रहेगा
तुमने जो ज़बान बन्द करली
इतिहास पुकारता रहे गा

पर्वत में है तेरे दिल की धड़कन
झरनों में रवाँ है ज़िन्दगानी
ये बाँध, ये कल, ये कारख़ाने
कहते हैं तेरी अमर कहानी

त्रिबेनी का क़ीमती जवाहर
अब जिसकी हर इक चमक अमर है
यमना तेरे पास है वो नेहरू
संगम तेरे पास घाट पर है

● 'नज़ीर' बनारसी

गुलाब के आँसू

श्री नेहरु की पुण्यस्मृति में

●

चराग़े-महफ़िले-इल्मो-अमल है नाम तेरा
बहारे-गुल्शने-हिन्दोस्ताँ पयाम तेरा
हर-एक बेकसो-बेज़र तेरी पनाह में है
दिलों के ज़ख़्म का मरहम तेरी निगाह में है
मिसाले-सुब्ह, अंधेरे की ज़द से दूर है तू
शबे-स्याह में तनहा मनारे-नूर है तू
तेरा जमाल निगहबाँ नहीं तो कुछ भी नहीं
वतन में अम्न का सामाँ नहीं तो कुछ भी नहीं

● सिकन्दर अली 'वज्द'

फिर आज उनके 'पुराने ख़ुतूत' देखता हूँ!
फिर आज ढूँढ रहा हूँ मैं उनकी तक़रीरें
'तलाशे-हिन्द' के औराक़ फिर उलटता हूँ!
ख़याल था कि अभी उसको सिज्दा कर लूँगा
ये रौशनी तो बहरहाल मेरे घर की है!
तसाहुली ने मुझे हाय कर दिया बरबाद
कोई बताओ मेरी रौशनी कहाँ गुम है?
'तलाशे-हिन्द' के औराक़ फिर उलटता हूँ
वो रौशनी तो यहीं थी, अभी यहीं होगी?

● 'सलाम' मछलीशहरी

नहीं वो तीर ख़ता, जिसका वार हो जाये
वही है तीर, जो सीने के पार हो जाये
नहीं वो आज, जो कल तक थे बज़्मे-आलम में
उदास क्यों न चमन की बहार हो जाये
मुहब्बतों का ख़ज़ाना, मुरौव्वतों का जमाल
दिलो-निगाह का यकसाँ शुमार हो जाये
यही शआर था नेहरू का बल्कि इससे सिवा
ज़माना उनका न क्यों सोगवार हो जाये
हर-इक ज़बाँ प फ़साना है आज नेहरू का
सुने जो दिल से तो दिल दाग़दार हो जाये

● 'अफ़क़र' मोहानी
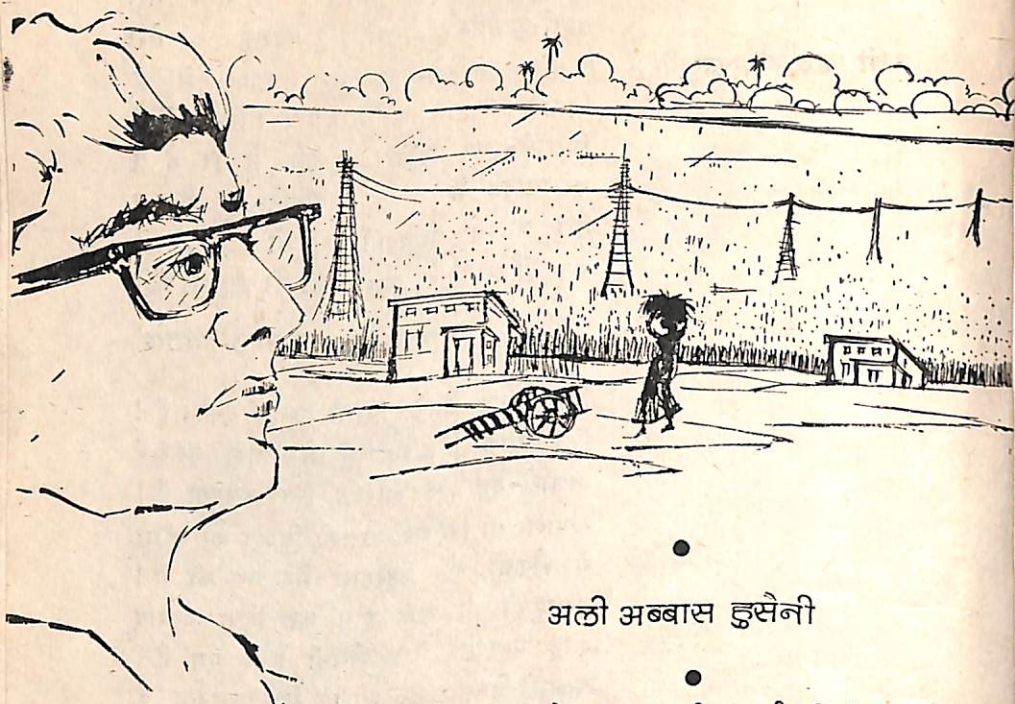
अली अब्बास हुसैनी

रहमान खिटपिटा गया। वैसे ही किसी ने रेडियो की सुइच घुमा दी। वह पंडित नेहरु की वसीयत का एलान कर रहा था—

"उन्होंने वसीयत की है उनकी थोड़ी-सी ख़ाक गंगा में इस लिए बहाई जाये कि वह उसके पानी में मिलकर इलाहाबाद से कलकत्ता तक के किनारों को छूती चली जाय और उस सारी सरज़मीन को उपजाऊ बनाए।"

रहमान को बस एक ही धुन थी, किसी तरह उसके पास इतने रूपये हो जायें कि वह अपनी नूरा का मक़्बरह भी ताज जैसा बनवा दे। बीस बरस से वह यही ख़ाब देख रहा था, संगे-मरमर में ढले हुए हुस्ने-मुजस्सम का ख़ाब ! उसने अपनी नूरा से मुमताज़ महल की क़ब्र का कटेहरा पकड़ कर यह वादा किया था, और उसकी नूरा ने मरने से पहले अपनी ख़ास ज़िद्द करने वाली अदा से मुस्कुराकर उससे अपना वादा न भूलने का इक़रार भी लिया था। बीस बरस में शायद ही कोई दिन ऐसा हो जब रहमान को अपना वादा न याद रहा हो। वह दूर-दूर मुल्कों में रहा, उसकी ज़िन्दगी में बड़े-बड़े इन्क़लाबात हुए मगर वह न नूरा को भूला और न उसके फ़रमाइश ताज को। अब वह वतन पलट रहा था इसी वादा को पूरा करने के लिए।

बीस बरस पहले वह अपने गाँव बिलेहड़ा का एक छोटा-सा काश्तकार था। रहमान के बाप ने गाँव के ठाकुर राजा बलवीर की बड़ी-बड़ी ख़िदमतें की थीं, न जाने कितनी बार उसने उनका सिपर बन कर अपने हाथ-पाँव तुड़वाए थे। राजा ने इन्हीं ख़िदमतों के सिलसिले में अपने सीर के खेतों में से दस बीघे का एक मुसल्लम चक बतौर माफ़ी के उसके नाम लिख दिया था। रहमान के बाप ने इसी चक के किनारे अपना एक छोटा-सा कच्ची दीवारों का खपरैल से छाया हुआ मकान बनवा लिया था और बाहरी सहेन में उसारे के क़रीब एक यकपलिया छप्पर अपने बैलों और भैंस के बाँधने के लिए डाल लिया था। रहमान इसी मकान में पैदा हुआ, पला, बढ़ा, और उसने अपने गाँव के स्कूल से उर्दू-हिन्दी मिडिल पास कर लिया था। मुम्किन है कि वह आगे भी कुछ पढ़ता, मगर गाँव में ताऊन आया, जो बाप, माँ, छोटी बहन सबको अपने साथ ले गया।
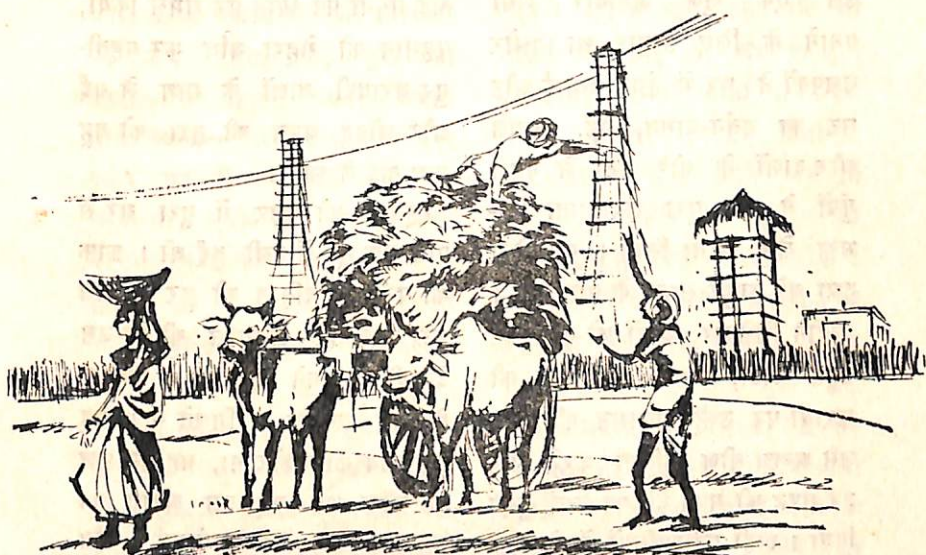
सोलह बरस के लड़के पर मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़ा। घर काटे खाने लगा। वह कहिए कि बेचारी मामी, जो पहले ही से बेवा और बे-औलाद थीं, उसे संभालने के लिए अपना घर छोड़ कर उसके घर में उठ आईं। बुढ़िया को एक तन्दुरुस्त सोलह बरस का होनहार बेटा मिला। रहमान को फिर अपने घर में सर पर मुहब्बत का हाथ फेरने वाली और दो वक़्त की रोटी पका देने वाली हस्ती मिल गई।

इस तरफ़ से तो ज़रा इत्मीनान हुआ, मगर पट्टीदारों ने लड़का समझ कर इसे दबाने की कोशिश की, खेतों पर क़ब्ज़ा कर लेने की फ़िक्रें, तद्बीरें कीं। अज़ीज़ों, क़राबतदारों की हमदर्दियाँ भी खुदग़र्ज़ी से खाली न थीं। कोई खेती में साझी बनना चाहता था, कोई उसका मुख्तारे-आम बन कर सारी जिम्मेदारियाँ अपने सर लेकर, उसे एक लुंजे जमींदार जैसा बनाने के लिए तैय्यार था। चोर उचक्कों ने घर में सेन्द लगाई और घर का बर्तन-बासन, गेहूँ, चावल और दालों के बोरे उठा ले गए। गुंडों ने एक पूरा लहलहाता हरा-भरा खेत चरवा लिया। वह रोता हुआ बड़े ठाकुर साहब के पास गया। उन्होंने ज़िलेदार, प्यादों को बुला कर बहुत डाँटा, उनके इन्तिज़ाम की खराबी पर उन्हें मलामत की और उसे अच्छा बीज मुहैय्या करने और हर तरह की मदद देने का उन्हें हुक्म दिया। इन्हीं परीशानियों में दो बरस गुज़र गए। और रहमान सख्तियाँ झेल कर जवान हो गया।

मामी ने उसकी भीगती मसें देख कर और वक़्त-ना-वक़्त की सुन कर इधर-उधर रिश्ते की बात-चीत की। उसे बहतीपुर की नूरा बहुत पसंद आई। उसने एक दिन रहमान से कहा, "अब तू जवान हो गया है, अपना घर बसा। घर में चाँद-सी बहू ले आ। मैं अकेली बैठी मक्खी मारा करती हूँ, वह आ जायगी तो ज़रा चहल-पहल होगी। कुछ दिन उसको छुन-छुन कड़े बजाती इधर-उधर आते-जाते देखूँगी। फिर तेरे लाल से बच्चे, इस आँगन की धूल में लोटेंगे, मट्टी की लड्डू बनायेंगे। उन्हें देख कर मेरा दिल बाग़-बाग़ होगा।"

रहमान ने शर्माते हुए मुस्कुराकर कहा, "तू जा के ढूँढ ला, मैं कब इन्कार करता हूँ!" और बुढ़िया ने चट मँगनी पट ब्याह पर अमल किया, रहमान को सेहरा बाँध कर बहतीपुर बरादरी वालों के साथ ले गई और चौदह बरस की नूरा को बहू बना कर ले आई।

रहमान की नज़र में नूरा सर से पाँव तक नूर में ढली हुई थी। क़ाफ़ की परी थी, बहिश्त की हूर थी, बस कुछ इतनी ही खूबसूरत थी कि उस देहाती को अपने जज़्बात के इज़हार के लिए अल्फ़ाज़ न मिलते थे। वह इस चाँद का चकोर था, वह इस फूल का भौंरा था, वह इस चराग़ का परवाना था, वह गर्म-गर्म साँस

लेकर कहता, "तुम इतनी अच्छी लगती हो नूर! इतनी अच्छी कि जी चाहता है कि तुम्हें चबा जाऊँ! सीना चीर कर तुम्हें उसके अन्दर रख लूँ!" और नूरा इस तरह हँसती, जिस तरह पतली गर्दन वाली सुराही चैत-बैसाख के प्यासे को पानी देते हुई हँसती है। लेकिन इस हँसी से रहमान की प्यास बढ़ती ही थी, बुझती न थी। और जिस-जिस तरह क़ुलक़ुल की आवाज़ तेज होती, रहमान की आवाज़ गुलूगीर होती जाती।

नूरा की आवाज़ वाक़ई थी भी बड़ी शीरीं और सुरीली। वह बहुत अच्छा गा लेती थी। वह अच्छे से अच्छे गवैय्यों की नक़ल उतारने पर क़ुद-रत रखती थी। इसे बड़े-बड़े मौसी-क़ारों के सुनने का मौक़ा ही कहाँ मिला था। ग्राम-सभाओं में उस वक़्त रेडियो का चलन भी न था। मगर बरादरी का एक शख़्स, जो कलकत्ता में काम करता था, नूरा की शादी से पहले, अपनी जवान बीवी के लिए नया ग्रामोफ़ोन और दर्जन भर फ़िल्मी गानों के रेकार्ड लाया था। दस-बारह मुसलसल रातों को यह रेकार्ड बजाए गए। गाँव की बूढ़ियाँ, जवानें, बच्चियाँ सब ही तो कलकतिया भाई के घर में ग्रामो-फ़ोन के गिर्द हल्क़ा बनाए बैठी रहती थीं और इन रेकार्डों को सुन-सुन कर मटकतीं, तालियाँ बजातीं और झूमती थीं। नूरा ने इनको ध्यान लगा कर सुना; इनके बोल साथ-साथ दोहराती गई और इनको हूबहू नक़ल करने लगी।

जब चाँदनी रातें होतीं, अंधियारी सफ़ेद चादर सर से पाँव तक ओढ़ लेती और मामी अपनी खटिया पर पड़ी खर्राटें लेती होतीं, तो रह-मान और नूरा एक दूसरे को आँख मारते, बिल्ली की चाल चल कर घर से बाहर निकलते, दरवाज़े में बाहर से ताला डाल कर, हाथ में हाथ दे कर गाँव के पक्के तालाब पर चले जाते। दोनों वहाँ पानी से क़रीब वाली सीढ़ियों पर बैठ जाते और नूरा शौहर को फ़िल्मी गाने सुनाती। रहमान को कभी बीवी की लैदारी पर, कभी गानों के बोल पर, ऐसा मज़ा आ जाता कि वह पत्थर की सीढ़ियों को ज़ोर-ज़ोर से घूंसों से मारता, और यह भूल जाता कि वह न तो भैंस की पीठ है और न बैल के पुट्ठे। ऐसे में जब उसे चोट आ जाती और वह सी कर के हाथ को अपनी गर्म-गर्म फूंकों से सेंकने लगता, तो नूरा उस पर बिगड़ती, फिर उसका हाथ अपने नर्म-नर्म हाथों से सहलाती और उसे चूम-चूम कर रहमान को एक नई तकलीफ़ में मुब्तिला कर देती। वही तकलीफ़ जो उसे नूरा को अपने सीने में न रख पाने से होती थी! और नूरा उसके चेहरे के बदलते हुए रंग को देख कर बेसाख़्ता हंसती, और उस पर पानी उछाल देती। फिर दोनों की एक दूसरे को पकड़ने और बचने की

कोशिश भाग-दौड़ की सूरत अख़्तियार कर लेती। और नूरा जब फूलती साँसों के साथ थक कर गिरफ़्तार हो जाती, तो वह रहमान की गर्म जोशियों को भड़काने के लिए पानी की सतह पर चमकते चाँद की तरफ़ इशारह कर के कहती, "अरे क्या कर रहे हो, देखते नहीं वह चन्दा मामूँ क्या घूर रहे हैं।" रहमान फ़ौरन ही एक ढेला उठा कर पानी पर चमकते चाँद को खींच मारता और वह टुकड़े-टुकड़े हो जाता; और नूरा के दीदों में चमकते तारों की तरह न जाने कितने छोटे-छोटे चाँद पानी में तैरने लगते। नूरा के हल्क़ से क़ुलक़ुले-मीना जैसी आवाज़ निकलती और रहमान आपे से बाहर हो कर उसे चबाने की कोशिश करने लगता।

नूरा की उस ज़माने में बस एक तमन्ना थी, किसी तरह वह अजमेर-शरीफ़, उर्स में पहुँच जाय। उसने सुन रक्खा था कि वहाँ हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का बड़े से बड़ा क़व्वाल आता है। वह चाहती थी, उसने जिस तरह फ़िल्मी गाने सीख लिए हैं, उसी तरह वह अच्छे-अच्छे तराने और क़व्वालियाँ भी याद कर ले। सहेलियों-सखियों को जैसे वह गाना सुनाती है, उसी तरह बड़े-बूढ़ों को अपने प्यारे नबी के नअत भी सुना सके। रहमान से जब उसने अपनी इस ख़ाहिश का ज़िक्र किया तो उसने फ़ौरन ताईद की। वह जब से पैदा हुआ था, आस-पास के देहातों और ज़िला के छोटे से शहर के अलावा कुछ न देखा था। जब इस तरह का हँसता-गुनगुनाता जीवन-साथी अपने पास हो तो हाथ में हाथ डाल कर दुनिया के अजायबात और बड़े-बड़े शहरों की चहल-पहल देखने की ख़ाहिश क्यों न पैदा हो। मगर घबरासट भी थी। रेल पर सवार होना पड़ेगा, नए-नए लोग होंगे, नई-नई जगहें होंगी और साथी मासूम भी है, कैसा पड़े कैसा न पड़े। मगर उर्स का ज़माना आते ही ख़बर मिली कि अपनी बरादरी ही के ख़लील काका, जो दो बार हज कर चुके हैं, अबके अजमेर शरीफ़ जा रहे हैं। बस रहबर भी मिल गया और वह भी गोया अपने घर ही का। ऐसा कि उसने हर मुश्किल में मदद मिलने का यक़ीन था। सफ़र का समान बँध गया। गाड़ी आगरा हो कर जाती थी। वहाँ सुब्ह को पहुँचे तो रहमान के दिल में शौक़ चर्राया कि एक दिन रुक कर यहाँ का क़िल्आ और ताज बीबी का रौज़ा क्यों न अपनी नूरा को दिखा दूँ? उसने शर्माते-शर्माते ख़लील काका से ज़िक्र किया। उस बूढ़े ने साठ से कुछ ही कम बरसातें देखी थीं। वह मुस्कुराया और उसने कहा, "बहुत अच्छा ख़याल है। मैं यहीं स्टेशन पर तुम लोगों का अस्बाब देखता हूँ, तुम दोनों घूम-फिर आओ।"

और रहमान व नूरा ने मुँह खोले-खोले ताज का गोशा-गोशा देखा,

इगर

और जब वह नीचे तहख़ाने वाली असल क़ब्र पर पहुँचे तो रहमान ने मुमताज़ महल की क़ब्र पर हाथ रख कर कहा, "लोग जो जी चाहे कहें, मगर नूर, सच मानो, जितना मैं तुमको चाहता हूँ, उससे ज़्यादा शाहजहाँ अपनी मलका को नहीं चाहता रहा होगा !"

और नूरा ने चमक कर कहा, "मैं जब मानूँगी जब मेरे मरने पर तुम भी, इस से बहुत छोटा सही, मगर बिल्कुल ऐसा ही-मेरे लिए मक़बरह बनवा दोगे !"

रहमान बेताब हो कर बोल उठा, "अल्लाह न करे मैं तेरे बाद जियूँ !"

वह हँस पड़ी, मालूम हुआ वाक़ई मोतियों की बारिश हो रही है। वह बोली, "न बनवाने का यह अच्छा बहाना निकला !"

रहमान ने जोश में आकर वादा किया, "अच्छा-अच्छा मैं जियूँगा भी और तेरा मक़बरह भी बनवाऊंगा। बिल्कुल तेरी तरह नूर में ढला हुआ।"

और जब नूरा अजमेर-शरीफ़ से पलटी तो हर तरह बामुराद पलटी। क़व्वालियाँ भी एक से एक बढ़िया याद कर लाई। पेट में बच्चा होने का यक़ीन भी साथ लाई। और मक़बरह बनवाकर अमर बनाए जाने के वादे के पूरे किये जाने का यक़ीन भी। वह हद दर्जा ख़ुश थी। वह अपना दामन हर तरह भर लाई थी। उसने अपनी सारी सखियों को बार-बार अपने सफ़र की दिलचस्पियाँ और अजायबात बयान कर के तअज्जुब से न सिर्फ़ भर दिया बल्कि इनमें से हर एक पर अपना बड़ापन भी साबित किया और यह जतला कर कि उसके मियाँ जैसा चाहने वाला शौहर किसी को नसीब नहीं, उनमें रश्क का जलापा भी पैदा कर दिया। उसने बूढ़े-बूढ़ियों को ताज़ा सीखी हुई क़व्वालियाँ भी सुनायीं और उनसे जीने-बसने, फलने-फूलने की दुआएँ भी ख़ूब-ख़ूब वसूल कीं। और यह दस्तूर-सा हो गया कि हर जुम्आ की रात सब रहमान के उसारे में जमा हो जाते और नूरा उन्हें अपने गले का रस इतना पिलाती, इतना पिलाती कि वह बहक जाते।

लेकिन जैसे-जैसे जूही का फूल मोतिए की सूरत अख़्तियार करता गया। इन नशिस्तों (गोष्ठियों) में कमी आती गई, सुनने वालों का चाहे जी न भरता हो, मगर सुनाने वाली जल्द ही थक-सी जाती। फिर वह उन्हीं कव्वालियों को बार-बार दोहराते-दोहराते आजिज़ भी आ गई थी। उसने तै किया था—मैं अपने चाँद जैसे भैय्या के पैदा होते ही उसे लेकर फिर अजमेर-शरीफ़ जाऊँगी, और जहाँ उसके लिए ख़ाजा साहब से बर्कतें मागूँगी, ख़ुद नई-नई क़व्वालियाँ, नए-नए गीत सीख कर आऊँगी।"

मगर ज़िन्दगी तो मकड़ी के जाल जैसी कमज़ोर और फुस-फुस है !

एक दिन रहमान सूरज डूबने से पहले किसी काम से दूसरे गाँव चला गया। बैलों की नाँद ख़ाली रह गई।

वह डकारने लगे। नूरा उन्हें भसा देने चली गई। बैल सत्रे हुए थे, मालकिन की सूरत पहचानते थे, उसकी बूबास से मानूस थे, मगर उनमें से एक उस दिन कुछ ज़्यादा भूका था, वह नाँद के पानी में भूसा डाल कर झुकी हुई हाथ से इसे मिला रही थी कि बैल ने बेचैनी से नाँद में मुँह डाला और इसके सींग की तेज़ नोक नूरा की पसली के नीचे ज़ोर से लगी, नूरा ज़मीन पर गिरी और बेहोश हो गई। मामी बावर्चीख़ाने में खाना पकाने में लगी थीं। उन्हें इस हादसे को कोई भी ख़बर न हुई, और बैल इत्मीनान से खाते रहे!

आध घंटे बाद जब रहमान वापस आया और उसे नूरा न दिखाई दी तो वह लालटेन लेकर उसकी तलाश में निकला। लालटेन बलन्द करके जहाँ उसारे में रौशनी डाली, वहाँ छप्पर में भी। छप्पर से जहाँ बैलों की आँखें चमकीं वहाँ नूरा का चेहरा भी चमका। वह, "अरे क्या हुआ?" कहता लपका, और उसने बीवी को गोद में उठा कर अन्दर ले जाकर पलंग पर लिटा दिया। वह अब भी बेहोश थी और उसके कपड़े में ख़ून के धब्बे थे। मामी ने जल्दी-जल्दी मुँह पर पानी के छीटे दिये, तो वह होश में आई, मगर दर्द से बग़ैर पानी की मछली बनी हुई। वह जल्दी से गाँव के वैद्य जी को बुला लाया। उन्होंने नाड़ी देखी, हालत सुनी, कई भसम खिलाए और सेंक-लीप बताकर सर हिलाते घर चले गए। गाँव में जिसको ख़बर हुई वह दौड़ा आया। रहमान बौखलाया-बौखलाया हर-एक का मुँह देखता रहा। बड़ी-बूढ़ियों ने मोटी-झोटी जो दवाएँ उनको आती थीं, वह सब कर डालीं। मगर उसकी हालत बिगड़ती ही चली गई। सब की राय हुई कि इस वक़्त तो रात बहुत आ गई है, इस लिए जिस तरह बने काटो। सुब्ह-सबेरे ही शहर के हस्पताल ले जाओ। मगर सुब्ह से पहले ही चिराग़े-सहरी (सुब्ह का चिराग़) बुझ गया। बस एक मिनट के लिए लौ भड़की। नूरा ने आँख खोल कर मियाँ को देखा। ज़िद वाली मुस्कुराहट उसके नीले लबों पर आई। वह बोली, "भूलना नहीं मेरा ताज!" और अपने देहाती मुफ़लिस शाहजहाँ को उसका वादा याद दिला कर वह हमेशा के लिए ख़ामोश हो गई।

रहमान ने इसी वादे के ज़ेरे-असर अपने दस बीघों के चक के बीच में उसे दफ़्न किया। मगर संगमरमर का मक़बरह कैसा, क़ब्र को पुख़्ता कराने के पैसे भी उसके पास न थे। फिर भी अज़्म (संकल्प) अटल था, वह ताज जैसा मक़बरह अपनी नूर के लिए ज़रूर बनवायेगा, ज़रूर बनवायेगा। इस लिए गाँव से निकलना, वतन का छोड़ना ज़रूरी था। बाहर जाकर रुपए कमाना लाज़िमी था।

उसने बैल बेच डाले, भैंस भी निकाल डालीं। मामी के साल भर के खाने को छोड़ कर सारा ग़ल्ला फ़रोख़्त कर डाला। उसे कुछ रुपए ऊपर के ख़र्च

इगर

को दिए, उनसे नूर की क़ब्र की खबर-गीरी का वादा लिया और गाँव को खैरबाद कहा। मगर वह जाये तो कहाँ जाये ? शहर में फ़ौजी भरती ज़ोरो-शोर से हो रही थी। दूसरी बड़ी लड़ाई के सिलसिले में जापानी बर्मा पर क़ब्ज़ा कर चुके थे। मगर रहमान को फ़ौजी बनने का कोई शौक़ न था। वह फ़ितरी (स्वाभाविक) तौर पर अम्न-पसन्द था। फिर वह जानता था कि वतनपरस्त इसे मुल्की लड़ाई नहीं मानते। गाँधी जी, नेहरू, आज़ाद, सब बड़े-बड़े लीडर इसी लिए जेल में बन्द हैं। इस लिए रहमान के दिमाग़ में एक ही जगह का खाल आ सकता था। मुल्ला की दौड़ मस्जिद, बस अजमेर-शरीफ़ ! वह अपने और नूर के खाजा से कहेगा, "तुम ही दिलवाओ!" मगर फिर रास्ते में पड़ता था वही आगरा, जिस ताज को नूर के साथ देखा था, उसे फिर एक बार देख लेने की खाहिश दिल में मचल गई। बड़ी मुश्किल से सवारी मिली। हज़ारों ग़ैरमुल्की जंग पर जाने और वहाँ से ज़ख्मी हो कर पलटने और सेहतयाब होने के बाद ताज का देखना फ़र्ज़ समझते थे। रहमान ने उसी भीड़ के साथ अबकी बार ताज देखा। मगर इस मेलें में भी वह जैसे अकेला ही था। बस हर क़दम पर उसकी नूर दिखाई दी। उसकी हँसती मुस्कुराती शक्ल कई बार देख लेने की खाहिश ने उसे कई दिन आगरे में रोके रक्खा।

एक दिन जब कि वह ताज के ज़ीने पर बैठा, दिल ही दिल में अपनी नूर से बातों में मशग़ूल था। उसने देखा एक फ़ौजी अफ़सर ज़ीने से उतरते-उतरते लड़खड़ाया और पक्के फल की तरह ज़मीन पर गिर पड़ा। रहमान ने दौड़ कर उसे गोद में उठा लिया और उसके इशारे पर उसे टैक्सी तक पहुँचाया। और उसे संभाले हुए होटल ही न गया बल्कि एक हफ़्ता बाद उसी कर्नल टाम्सन के साथ वह अमरीका चला गया।

टाम्सन का टेक्सास में एक बहुत बड़ा फ़ार्म था, जिसमें खेती बहुत बड़े पैमाने पर होती थी। पिट्रोलियम और मोटर की कम्पनियों में उसके बड़े-बड़े हिस्से थे और चीज़ों के दरामद व बरामद का काम भी होता था। उसके न कोई अज़ीज़ था, न कोई लड़का, न लड़की। किसी ज़माने में इसकी भी एक हेलन थी, जिसका पैरिस खुद मल्कुलमौत बना था और एक मोटर के हाद्से के सिलसिले में इस हसीना को अग़वा कर लिया गया था। उसी ग़मो-ग़ुस्से में सारा काम भरोसे वाले मनेजरों को सिपुर्द करके, टाम्सन ने खुद फ़ौज में कमीशन ले लिया था और अब वह बर्मा के मोर्चे से दोनों टाँगें बेकार करा के, अमरीका रहमान की बैसाखी लगाए पलटा था। उसके ज़ख्मी दिल में रहमान की सादगी घर कर गई थी। उसने अपने इस भूरे बेटे को रातवाले स्कूलों और कालेजों में तालीम दिलवाई और उसे एक होशि-

यार खेतिहर इन्जीनियर बनवा कर, अपने फ़ार्म में मुख्तलिफ़ ज़िम्मेदारियाँ देकर, उसे अच्छी तरह जाँचा और परखा और अपने फ़ार्म और तिजारत में हिस्सेदार बना लिया।

रहमान ने इस ग़ैरमुल्की एहसान करने वाले को बड़े एहतेराम से अपने दिल में जगह दी। वह टाम्सन का सहारा, बैल और उसका बेटा बन गया। उसे इब्तिदा ही से मुख्तलिफ़ तरह के ग़मों, आज़माइशों और ज़िम्मेदारियों ने संजीदा बना दिया था। अब जो उसने एक आज़ाद मुल्क की आबो-हवा में काफ़ी तालीम हासिल की, तो उसे अपने मुल्क की ग़ुलामी भी सताने, दुख देने लगी। टाम्सन से मुहब्बत की एक वजह यह भी थी कि वह हिन्दुस्तानी आज़ादी का बहुत सख्ती से हामी था। वह बार-बार कहता, "रहमान, मैं मर जाऊँ तो तुम अपने मुल्क जाकर उसकी जंगे-आज़ादी में ज़रूर शिरकत करना। मुझे तुम्हारे नेहरू की आन बहुत पसन्द है।" और जब हिन्दुस्तान को आज़ादी मिली तो उसने रहमान की तरफ़ से अपने फ़ार्म पर एक बहुत बड़ा जलसा किया, जिसमें कई सौ मेहमान आए और रात भर नाच और रंग की बज़्म जमी रही। और जैसे-जैसे नेहरू मुल्क को सुधारते और संवारते चले गए, रहमान के दिल में उन से मिलने, उनके मन्सूबों में शिरकत करने और अपने मुल्क को खेती की हैसियत से अमरीका जैसा उपजाऊ बनाने की ख़ाहिश बढ़ती गई। यह ख़ाहिश उसके हीरो के दौरए-अमरीका में उससे मुलाक़ात व गुफ़्तुगू से तेज़तर होती गई। बस अब उसके दिल को यही लगन थी कि वह किसी तरह हिन्दुस्तान पहुँचे और नूरा का मक़बरह बना कर वह अपने हीरो के चरनों में अपना सब कुछ डाल दे। इस लिए जैसे ही टाम्सन की आँखें बन्द हुईं उसने अपने हिस्से की सारी जायदाद बेच डाली और सारा सरमाया हिन्दुस्तानी बैन्कों में मुन्तक़िल करा के वह वतन के लिए हवाई जहाज़ से रवाना हो गया। बस अब इसे यही धुन थी—वह नूर का ताज बनवादे और नेहरू जी के मन्सूबों में तन मन धन लगा दे।

लेकिन वह लंदन में पहुँचा था कि खबर मिली कि उसका महबूब भी एक रात की बीमारी में चटपट हो गया। नूरा क्या थी, फूल पर उसकी बूँद, सुब्ह की पहली किरन में चमकी और फ़िर खत्म। और यह नेहरू एक कोंदा था, अपनी चमक से एक लम्हे के लिए सारे मुल्क में उजाला किया और फिर वही देश भर में पाक अँधेरा! रहमान के सारे खयाली महल गिर कर ख़ाक का ढेर हो गए। मगर उसने हवास न खोये। उसी वक़्त स्पेशल हवाई जहाज़ चार्टर किया और उसने दिल्ली आकर लाखों हमवतनों के साथ आँसू बहा कर इस गुलाबों से ढके फूल से जिस्म को

संदली चिता पर जल कर खाकिस्तर बनते देखा।

वह उस रात अशोक होटल के एक कमरे में ग़मज़दा पड़ा रहा। दूसरे ही दिन वह बिलेहड़ा के लिए रवाना हो गया। रास्ते भर न उसने कुछ खाया-पिया, न किसी से बातें कीं, बस गुम-सुम मुँह लपेटे पड़ा रहा। दूसरे दिन सुब्ह-सवेरे जब वह अपने शहर के स्टेशन पर उतरा, उस ने अपना मुख़्तसर सफ़री सामान एक रिक्शे पर रख कर अपने गाँव का रुख़ किया। क़रीब के गाँवों ही में उसे हर तरफ़ सूखा पड़ने के आसार दिखाई दिये हर दरख़्त, हर खेत पर एक सोग-सा तारी था। सब मुर्झाये, हुए, सब तरह-तरह से मुँह लटकाये हुए, बेज़बानी पर गोया प्यास से ज़बान लटकाए हुए पानी! पानी! की सदा लगाते हुए।

और जब वह घर पहुँचा तो घर की जगह एक टीला दिखाई दिया। न दीवारें, न छत, न उसारे, न कोठरियाँ, बस एक उजड़ा-उजड़ा मिट्टी का ढेर। और वह रिक्शे से उतर कर उस घास-फूस के ढेर को भीगे दीदों से देखता रहा। कैसी-कैसी तस्वीरें इसकी नज़रों में फिरती रहीं। अब्बा जी बैठे नरैल पी रहे हैं...अम्मा उसे छाती से लगाए प्यार कर रही हैं, मामी उसे बहू न लाने पर डाँट रही हैं, किसी के चेहरे पर इत्मीनान व सुकून की लकीरें, किसी का हाथ ममता से काँपता हुआ, किमी की आँख मुहब्बत से डबडबाई हुई, और फिर यकबारगी वह याद आ गई। जो हर आन हँसती, गुनगुनाती फिरती थी, जिसके हर बोल से रस टपकता था, जिसकी तस्वीर अब भी दिल के आईने में नज़र आती थी। और वह इन बूढ़ों पर फ़ातेहा पढ़ते हुए उधर लपका, जिधर उसने उसका ताज तामीर करने के लिए उसे सिपुर्दे-ख़ाक किया था। सारे खेत बोये हुए थे अनाज उगा हुआ था। मगर हरयाली ग़ायब थी। इसी तरह वह मज़ार भी ग़ायब था, जिसे वह तलाश कर रहा था। वह मुख़्तलिफ़ खेतों में भटकता फिरा। याद पर ज़ोर दे कर वह उस जगह पर भी पहुँच गया, जहाँ उसने अपनी जान से ज़्यादा अज़ीज़ नूर को सिपुर्दे-ख़ाक किया था, मगर कोई निशाने-क़ब्र न था। वह खेत का एक जुज़ बन गई थी!

वह ग़ुस्से से अपनी बोटियाँ नोचने लगा, "किस शैतान ने नूर की क़ब्र पर हल चलाया, किसने उसकी आख़री आरामगाह को ढाया, मैं उसका ख़ून चूस लूँगा। मैं उसके जिस्म के तिक्के-बोटी करके चील कौव्वों को खिलाऊँगा!"

वह इसी तरह ग़ुस्से में भुना खेतों से निकला। गाँव के बहुत से लोग एक साहब को खेतों में मारा-मारा फिरते देख कर जमा हो गये थे। कौन है, कहाँ से आया है, क्या चाहता है, क्या करने का इरादा रखता है। इनमें से एक बूढ़े ने आगे बढ़कर अदब

से सलाम किया। रहमान उसे पहचानते ही गुस्सा भूला। जल्दी से सर से टोप उतार कर बोला, "अरे खलील काका। आपने मुझे नहीं पहचाना, मैं आप का रहमान हूँ।"

खलील ने गले से लगाने के लिए दोनों हाथ फैलाए, और रहमान को इस कमर झुके हुये बूढ़े के सीने से लगकर फिर ऐसा महसूस हुआ कि वह वही घबराया हुआ नौजवान है, जिसने इसी बूढ़े को अजमेर-शरीफ़ के सफ़र में अपना रहबर बनाया था, और एक क़दम भी बग़ैर उसकी सलाह-मशविरे के न उठाया था। और वह इससे का एक-एक कर नाम ले-ले कर गाँव वालों की खैर-सल्ला पूछने लगा। उसकी मामी की तरह उनमें से न जाने कितने मर गए थे, कितने तालीम पा कर शहरों में जा बसे थे। कितनी लड़कियाँ जवान हो कर ससुराल चली गईं थीं। कितने वच्चे शादी करके नई बहुएँ लाये थे। गाँव में ग़ल्ले की ज़रूर कमी थी, लेकिन नये-नये पैदा होने वाले बच्चों की कोई कमी न थी। हर साल दस बीस का इज़ाफ़ा होता रहा था।

खलील ने कहा, "आओ घर चलो, वहाँ रेडियो सुनने के लिए सब जमा होंगे। वहीं बातें होगी।"

खलील के उसारे में जब वह गया तो वहाँ बूढ़ों, जवानों, औरतों, बच्चों का हुजूम मिला। उनसे मिलते-मिलाते उसकी नज़र एक अधेड़ औरत पर पड़ी, जो इसकी नूर की खास सहेली थी, और उसे दफ़अतन अपना मक़सद याद आ गया।

उसने खलील से पूछा, "यह मेरी नूर की क़ब्र किसने खेत में मिल दी?"

खलील ने संजीदगी से जवाब दिया, "ज़माने ने! कच्ची क़ब्र बनाने का इसी लिए तो हुक्म है कि मरने वाले की हड्डियाँ गल-सड़कर अच्छी खाद बनें और क़ब्रें उपजाऊ खेत बन जायें।"

रहमान ने कहा, "यह आप क्या कह रहे हैं काका, मैं तो उसकी क़ब्र पर दूसरा ताज बनाने आया हूँ। देखिए इसका नक़्शा भी अमरीका के बड़े से बड़े आर्कीटेक्चरों से बनवा कर लाया हूँ!"

और उसने उसारे में, जो तख़्त का चौका बिछा था, उस पर नक़्शा फैला दिया। हू-बहू ताज की नक़्ल। सब देख कर वाह! वाह! करने लगे, मगर बूढ़े खलील ने सर हिला कर कहा, "मगर तुम्हारी इस इमारत से गाँव को क्या फ़ायदा होगा?"

रहमान सिटपिटा गया। वैसे ही किसी ने रेडियो की सुइच घुमा दी। वह पंडित नेहरू की वसीयत का एलान कर रहा था—

"उन्होंने वसीयत की है, उनकी थोड़ी-सी खाक गंगा में इस लिए बहाई जाये कि वह उसके पानी में मिल कर इलाहाबाद से कलकत्ता तक के किनारों को छूती चली जाय और उस सारी सरज़मीन को उपजाऊ

बनाए और उनकी बाइज़्ज़त खाक मुल्क के हर हिस्से में हवाई जहाज़ के ज़रीए उड़ाई जाये ताकि हवा से इसका कोई न कोई ज़र्रा हर खेत में गिरे और उसे उपजाऊ बनाए !"

लोग रेडियों सुनने में लगे रहे। रहमान ख़ामोशी से उठा और अपने रिक्शे पर आकर बैठ गया। ख़लील ने उसे रोकना चाहा। उसने कहा, "मैं दो तीन दिन बाद आऊँगा और अपनी नूर के लिए नया ताज ज़रूर बनाऊँगा !"

चौथे दिन वह फिर गया और अपने साथ कई इन्जीनियर और ओवरसियर ले कर गया। इनके हाथों में पैमाइश के आलात और कई बड़े-बड़े नक़्शे थे। ख़लील ने घबरा कर जब इनकी तरफ़ इशारा किया, तो यह नक़्शे भी तख़्त पर फैला दिए गए। और यह नक़्शे थे, एक बिल्कुल ही नये तर्ज़ के गाँव के। पक्के मकानात, पक्की सड़कें, बिजली के खम्बे, पानी के पाइप, स्कूल और कालेज की ख़ूबसूरत-ख़ूबसूरत इमारतें, खेल के मैदान, शानदार हस्पताल और रहमान के खेतों के ठीक बीच में एक ट्यूबवेल और उससे हर खेत में शरयानों (नाड़ी) की तरह पानी पहुँचाने वाली पक्की नालियाँ।

बूढ़ा ख़लील जोश में उठ कर खड़ा हो गया और उसने दुआ के लिए हाथ उठा दिये !

एक बार राजा साहब महमूदाबाद ने 'मजाज़' को मुख़ातिब करते हुए बड़े प्यार से कहा, "मजाज़ ! अगर तुम मानने का वादा करो तो एक बात कहूँ।"

'मजाज़' ने सरापा इंक्सार (तुच्छता) बनते हुए जवाब दिया,

"आप का हुक्म सर आँखों पर ! शौक़ से फ़र्माइये क्या इर्शाद है ?"

"मैं चाहता हूँ तुम्हारी शाएरी की क़द्र करते हुए तुम्हारे लिये दो सौ रुपये माहवार का मुस्तक़िल वज़ीफ़ा मुक़र्रर कर दूँ।"

"बड़ी मेहरबानी है सरकार की—"

'मजाज़' ने सर झुका कर उसी अन्दाज़ में कहा।

"लेकिन—" राजा साहब बात का रुख़ बदलते हुए बोले,

"लेकिन तुम्हें ख़ुदा को हाज़िरो-नाज़िर जानकर शराब से तौबा करनी होगी !"

"शराब पीना छोड़ना होगा ?" 'मजाज़' ने तड़पकर बड़ी हैरानी से राजा साहब की तरफ़ देखा और कहा, "फिर हुज़ूर आप के हर माह दो सौ रुपये मेरे किस काम आया करेंगे ?"

● 'असर' लखनवी

बालीं[1] प न लाये कोई उसे, क्या फ़ायदा शर्मा जायेगा
अब हाले-ज़बूनो-ज़ार[2] मेरा, उस से भी न देखा जायेगा
चोरी उस पर सीना ज़ोरी, चुप थोड़ी बैठा जायेगा
दिल छीन के लेने वाले लेजा, अच्छा देखा जायेगा
मैं उस से कहूँ दुख-दर्द तेरा, बस मेरी तो ऐ दिल तौबा है
सब आई गई मुझ पर होगी, कमबख़्त तेरा क्या जायेगा
क्या अर्ज़-तमन्ना का हासिल, वो एक ही पुरफ़न[3] है ऐ दिल
या बातें बनाई जायेंगी, या बातों में टाला जायेगा
इल्ज़ाम न दो, नाराज़ न हो, इस दिल से बहुत मजबूर हुये
अब तुम जो सहारा दो उट्ठें, यूँ हम से न उट्ठा जायेगा
जब याद दिलाया रोज़े-जज़ा,[4] काफ़िर ने कहा और हँस के कहा
सी जायेंगे तेरे होंट 'असर' जब नब नामे-दफ़ा आ जायेगा

● 'शकील' बदायूनी

मेरी बर्बादी को चश्मे-मोतबर[5] से देखिये
'मीर' का दीवान, 'ग़ालिब' की नज़र से देखिये
मुस्कुराकर यूँ न अपनी रहगुज़र से देखिये
जिस तरफ़ मैं हूँ, मेरी मंज़िल उधर से देखिये
मेरे ग़म-ख़ाने[6] के चारों सम्त[7] हैं दौलतकदे[8]
ज़िन्दगी की भीक मिलती है किधर से देखिये
फ़ितरतन[9] हर आदमी है तालिबे-अम्नो-अमाँ[10]
दुश्मनों को भी मुहब्बत की नज़र से देखिये
भेज दी तस्वीर अपनी उनको ये लिख कर 'शकील'
आप की मर्ज़ी है चाहे जिस नज़र से देखिये

१—सरहाने, २—खराब हालत, ३—मक्कार, चालबाज, ४—क़यामत का दिन, ५—एतबार की नजर ६—दुख का घर, ७—तरफ़, ८—दौलत का घर, ९—स्वाभाविक रूप में, १०—शान्ति चाहने वाला।

अनवर इनायत उल्लाह

किनारा न मिला

कमरे में दाख़िल होते ही हैरत से उनके क़दम वहीं रुक गये। तेज़ बारिश की वजह से रौशनी कम थी। उस ग़ैर-आरास्ता (बिना सजावट के) कमरे की दोनों खिड़कियाँ बन्द थीं और आसमान बादलों से घिरा हुआ था लेकिन पलक झपकते ही शाहिद की नौजवान आँखें सब कुछ भाँप गईं।

यह उन दिनों की बात है जब हाउसिंग सोसाइटी का नाम दुश्मनों ने रिश्वत नगर नहीं रक्खा था और ब्लाक नम्बर २ में गिनती की कोठियाँ तैय्यार हुई थीं और अक्सर दोपहर को शहर के शौक़ीन शिकारी इस वीराने में तीतर, चकोर और जंगली कबूतरों का शिकार खेला करते थे और मग़रिब (रात की नमाज़) के बाद कोई रिक्शे या टैक्सी वाला इस इलाक़े की सवारी नहीं बिठाया करता था। कैफ़े हाफ़िज़ और नये पिट्रोल पम्प के पीछे मुकरानियों के कई घर आबाद थे, जिनकी रखवाली दिन को खूँख़ार कुत्ते और रातों को उनके नौजवान किया करते थे। यहाँ का क़ब्रस्तान भी इतना आबाद नहीं था, जितना

कि अब है। चूँकि उस ज़माने में इस शह्र में शरीफ़ और अमीर लोग बहुत कम रहते थे, इसलिये इसकी चारदीवारी भी खासी खस्ता हालत में थी। आस-पास गिनती के दो घर आबाद थे, जिन पर उस वक़्त भी अमरीकनों का क़ब्ज़ा था। सड़कें बन गई थी लेकिन उनपर आमदो-रफ़्त नहीं शुरू हुई थी। आज जहाँ तारिक़ रोड है, वहाँ दूर तक फैले हुए टीले थे, जिन पर चढ़ कर न्यू टाउन और जमशेद रोड तक का इलाक़ा साफ़ नज़र आत था।

इस वीरान इलाक़े में तनहा औरत तो क्या अकेले शरीफ़ मर्द का गुज़र भी तक़रीबन नामुमकिन था। कम-से-कम बेग़म हामिद जंग का तो यही ख़याल था। लेकिन शाहिद बड़े प्यार से शेर कहता था। उसे तो बचपन से ऐसे ही पुरसूकून इलाक़े की तलाश थी। यूँ तो उसकी पैदाइश बंजारा हिल की थी, जिसका हैदराबाद के हसीन तरीन इलाक़ों में शुमार होता है, जहाँ शह्र के सारे अमीरों रईस आदमियों की आसमान से बातें करने वाली शान्दार कोठियाँ थीं। लेकिन जब उसने होश संभाला और शेर समझना और कहना शुरू किया तो उसके बाप को वाइसराय बहादुर ने अपनी ख़ास मेह्रबानी के साथ अपनी कौंसिल में जगह दे दी और उन्हें दिल्ली आ जाना पड़ा जहाँ की दौड़-धूप की ज़िन्दगी में वह परवान चढ़ा। और जब पकिस्तान बना और उसके वालिद (बाप) का इन्तिक़ाल हो गया और हैदराबाद हिन्दुस्तान का एक हिस्सा बन गया, तो शाहिद अपनी अम्मी के साथ पाकिस्तान चला आया।

कराची आने के बाद उन्हें बड़ी मुश्किल से सद्र (राजधानी) के पुर-शोर इलाक़े में, पन्द्रह हज़ार पगड़ी पर एक ख़ूबसूरत फ़्लैट किराये पर मिला। उसी दौरान में उसे तेल बेचने वाली एक ग़ैर मुल्की कम्पनी में एक खासी अच्छी नौकरी मिल गई। यूँ तो उसने फ़ारसी और अंग्रेज़ी दोनों में एम० ए० किया था और सारी ज़िन्दगी वह अदब की खिदमत में गुज़ार देने के ख़ाब देखा करता था लेकिन बाप के इन्तिक़ाल के बाद कराची आते ही उसे एहसास हो गया कि अदब की माक़ूल ख़िदमत उसी वक़्त हो सकती है, जब पेट अच्छी तरह भरा हो, वरना खाली पेट की शाएरी तो बहुत ही फ़ुसफ़ुसी होती है! चुनाँचे उसने फ़ौरन तेल कम्पनी की मुलाज़िमत क़ुबूल कर ली और कभी-कभी क़रीने के शेर भी कहने लगा।

अपनी नौकरी ही के सिलसिले में उसकी सेठ पोपटिया से मुलाक़ात हुई। शह्र में उसके दस पिट्रोल पम्प थे। सट्टा-बाज़ार पर भी उसकी हुकूमत थी। बुनियादी तौर पर आदमी बहुत शरीफ़ और बड़ा दिल-चस्पथ, साथ ही एक तेज़ और अच्छा व्यापारी भी था। दोनों बहुत जल्द दोस्त बन गये।

एक दिन वह सेठ के घर में बैठा अच्छे मकानों की कमी का रोना रो रहा था कि यकायक सेठ ने मुट्ठी बन्द करके सिग्रेट का एक लम्बा कश लगाया और कहा,

"शाहिद भाई—तुम इधर हाउसिंग, सोसाइटी में कोई कोठी-वोठी क्यों नहीं बनवा लेता ?—बड़ा क़ब्रस्तान इलाक़ा है। हर वक़्त सन्नाटा रहता है—किधर भी झाड़-माड़ नहीं है, पुन जिधर देखो खुला मैदान है—सिर्फ़ दूर-दूर नवा-नवा कोठी बनैला है—तुम कहो तो अपुन ज़मीन दिलवा दे—अपुन घर बनवा कर भी दे सकता है।"

"बनवा तो लूँ सेठ—लेकिन पैसा कहाँ है ! जो कुछ था सब फ़्लैट की पगड़ी दे दी।" शाहिद ने जवाब दिया।

"अरे पगड़ी दी तो क्या हुआ ? तुम भी पगड़ी ले सकता है। सैतान की आँत हैं। अब तुम यह करो कि यह फ़्लैट पगड़ी पर निकाल दो। छः महीने हमारा साथ रहो। कोठी बन जाय तो चला जाना। इस फ़्लैट का बीस हज़ार आसानी से मिल जायेगा—बम्बई, काठियावार का कोई भी नवा सेठ खूसी से ले लेगा। हमारा पास रोज व्योपारी आता है। यह लोग खुली कोठी में रह ही नहीं सकता। उनको तो रात को चैन का नींद और सुबा को बाथ रूम ठीक से फ़्लैट ही में आता है। उधर हार्उशिग सोसाइटी में बहुत-सा ऐसा बाबू लोग मिलैगा जिनके पास ज़मीन तो है, पुन साला कोठी उसका पड़ पोता तो क्या लकड़ पोता भी नहीं बना सकता। जरा ज्यादा पैसा दो तो फ़ौरन प्लाट मिल जायेंगा—बस तुम हाँ कह दो शाहिद भाई—छः महीने में कोठी न बनवा दूँ तो साला नाम बदल देना।"

शाहिद को सेठ की यह तज्वीज़ पसन्द आ गई और उसने फ़ौरन हामी भर ली। सेठ ने वाक़ई हर काम सलीक़े से किया और छः महीने के अन्दर-अन्दर शाहिद अपनी अम्मी के साथ हाउसिंग सोसाइटी चला आया।

यहाँ आने में शुरू-शुरू में माँ-बेटे को बड़ी घबराहट हुई। अँधेरी रातों को अक्सर वहशत से नींद न आतीं। क़ब्रस्तान क़रीब ही था। टूटी-फूटी क़ब्रों पर से तेज़ हवायें चलतीं तो शाहिद की नींद उड़ जाती और उसे अक्सर यूँ महसूस होता, जैसे बेचैन आवारा रूहें बैन (विलाप) कर रही हों। रात भर मुकरानियों के खूँख़ार कुत्ते लड़ा करते। अमरीकनों ने अपनी हिफ़ाज़त के लिये कई पठान चौकीदार भी रख छोड़े थे। जिनकी ड्रावनी चीखें भी अक्सर दूर से सुनाई दिया करतीं। दूर-दूर तक आबादी का नामो-निशान नहीं था। सिर्फ़ सौ गज़ परे सड़क की दूसरी तरफ़ एक छोटी सी कोठी तैय्यार खड़ी थी लेकिन शायद इस वीराने में आकर आबाद होने को कोई तैय्यार नहीं था। इसी लिये अब तक ख़ाली पड़ी थी।

एक दिन शाहिद मग़रिब के बाद घर आया तो उसे उस दूसरी कोठरी में रौशनी नज़र आई। अपने मुलाज़िम, कमालदीन से पूछा तो पता चला कि एक बेगम साहबा मए अपनी जवान बेटी के आज ही उसमें आई हैं। घर में उनके सिवा और कोई न था। न नौकर और न कोई दूसरा मर्द। हाँ एक ख़ूंखार कुत्ता साथ था, जिसे शाम होते ही खुला छोड़ दिया गया था। जाने कौन लोग थे!

शाहिद को कई दिनों तक उन लोगों के बारे में कुछ पता न चला। जब वह सुब्ह साढ़े आठ बजे दफ़्तर जाने के लिये घर से निकलता तो उस कोठी में ज़िन्दगी के कोई आसार (चिह्न) नज़र न आते। शाम को भी वहाँ एक अजीब सुकूत छाया रहता। रात को ख़ासी देर तक बरामदे का बल्ब जलता रहता। फिर न जाने कब चुपके से बुझ जाता और फिर सारी रात उनके कुत्ते की भारी आवाज़ सुनाई देती जो अंधेरे में ख़ुदा मालूम किसे देख कर लगातार भूंके जाता।

एक दिन कमाल दीन ने इत्तिला दी कि बड़ी बी की जवान लड़की रोज़ाना सवारी की तलाश में पैदल सोसाइटी आफ़िस तक जाती है। शायद वही बाज़ार से ज़रूरत की तमाम चीज़ें लाया करती थी। एक काली-कलूटी जवान भंगिन अब अक्सर नज़र आने लगी थी। जो नौ-दस बजे के बाद आकर घर की और बाग़ीची की सफ़ाई कर जाती। दूध वाले की आवाज़ भी शाहिद ने मुंह अँधेरे अक्सर सुनी थी लेकिन घर वालों में से कोई भी आज तक उसे नहीं देख सका था। न जाने दोनों माँ-बेटी दिन-रात घर में बन्द क्या किया करतीं। ज्ूँ-ज्ूँ दिन गुज़रते गये शाहिद की खोज बढ़ती गई।

एक दिन बातों-बातों में शाहिद ने पोपटिया से अपने पुर-असरार (भेद-पूर्ण) पड़ोसियों का ज़िक्र किया, तो सेठ फ़ौरन बोला, "शाला अपुन साब कुछ समझता है शाहिद भाई—तुम इस मआमिले में अभी बच्चा है। तुम नहीं जानता। बड़े शह्र की औरतों का तिरया चरत्तर—तुम बोलता है उधर कोई नहीं आता जाता?—अरे बाबा तुम्हारा तो साला मस्तक फिरैला है। तुमने आधी रात को कभी छुप कर कुछ देखने की कोशिश की है? यह निज़ाम हैदराबाद नहीं शाहिद भाई—कराची है। बम्बई का माफ़िक बड़ा ज़ालिम सिटी—इधर तो दिन से ज़्यादा रात को बिज़नेस होता है।"

यह कहते हुए सेठ ने अपने टेढ़े-मेढ़े दाँत निकाले और एक गूंजता हुआ क़हक़हा लगाया और अपनी टोपी उतार कर ज़ोर-ज़ोर से चंदिया खुजाने लगा।

क्या वाक़ई सेठ पोपटिया ठीक कह रहा था? उन औरतों का रहन-सहन वाक़ई कुछ ऐसा पुरअसरार (भेद-पूर्ण) था कि ख़ाहमख़ाह शक पैदा

होता था। यहाँ आने के बाद उन लोगों ने शाहिद से, या बेग़म हामिद जंग या घर के नौकरों से मिलने-मिलाने की बिल्कुल कोशिश नहीं की थी। यहाँ आये हुए उन्हें महीने भर से ज़्यादा हो रहा था लेकिन अब तक वह उनके दर्शन न कर सका था। उससे ज़्यादा ख़ुशक़िस्मत तो उसका नौकर कमालदीन था, जिसने दूर से न सिर्फ़ बड़ी बी को देखा था, साहबज़ादी (बेटी) से बात-चीत भी की थी। उसका कहना था कि बड़ी बी की उम्र पचास के क़रीब थी। दुबली-पतली थीं। ऐनक लगाती थीं, रंग गोरा था। ऐनक तो साहबज़ादी भी लगाती थीं लेकिन उनकी तनदुरुस्ती बहुत अच्छी थी और वह बेहद ख़ूबसूरत थीं।

एक दिन सुब्ह से बादल घिरे हुए थे। क़रीब पौने नौ बजे शाहिद घर से निकला तो उसे वह लड़की नज़र आ गई। आसमान पर बादलों में रह-रह कर यूँ गरज पैदा हो रही थी कि किसी भी वक़्त पानी बरस सकता था। हवा में ख़ासी ठंडक थी। वह लड़की एक हाथ में छतुरी और दूसरे में बड़ा-सा सियाह पर्स लिये सड़क पर तेज़-तेज़ सोसाइटी आफ़िस की तरफ़ जा रही थी। उसे देख कर शाहिद ने कार की रफ़्तार सुस्त कर दी और सोचने लगा किस तरह उससे बात करना शुरू करे। यक़ीनन वह बड़ी बी ही की लड़की थी, वरना इस वीराने में इतनी तरहदार लड़की कहाँ से आ सकती थी। दोनों के दरम्यान फ़ासिला कम होता जा रहा था और ज़ेहन बड़ी तेज़ी से सोच रहा था। शाहिद ने इधर-उधर देखा तो दूर-दूर तक सड़क सुनसान पड़ी थी। लड़की ने सफ़ैद सूती साड़ी बाँध रक्खी थी, जिसका गुलाबी नफ़ीस कन्नी थी। कुहनियों तक चुस्त आस्तीनों का ब्लाउज़ था। पैरों में दो पट्टी की स्याह चप्पल थी। सड़क पर कहीं-कहीं कीचड़ था। इस लिये वह संभल-संभल कर चल रही थी। कभी-कभी उसकी गोरी-गोरी एँड़ियों के ऊपरी हिस्से नज़र आ जाते, जो बहुत भरे-भरे और सिडोल थे। पीठ पर ख़ासी मोटी और लम्बी चोटी थी, जो इधर-उधर झूल रही थी। चेहरा तो नज़र नहीं आ रहा था लेकिन चाल-ढाल और पहनावे से साफ़ पता चलता था कि ख़ूबसूत होगी। रंग गोरा था और जिस्म साँचे में ढला हुआ।

शाहिद की कार जूँही उसके क़रीब पहुँची उसने मुड़ कर देखा और अचानक शाहिद को महसूस हुआ, जैसे उसके दिल की धड़कन पल भर के लिए रुक गई हो। ऐसी मासूम और प्यारी शक्ल तो जवान ख़ाबों ही में नज़र आया करती थी—ख़ूब गोरा कशमीरी रंग, बड़ी-बड़ी आँखें, जिन पर स्याह फ़्रेम का चश्मा लगा हुआ था। खड़ी रोमन नाक, छोटा-सा दहाना। सिवाय लिपस्टिक के चेहरे पर मेकअप नहीं था।

"माफ़ कीजियेगा ! अगर आप शह्र की तरफ़ जा रही हों, तो मैं आप को ड्राप कर दूँ ।" शाहिद ने कार रोक कर धड़कते दिल से बात की शुरूआत की ।

"जी शुक्रिया ! मुझे क़रीब ही जाना है ।" उसने खुश्क लह्जे में बड़ी बेपरवाई से जवाब दिया और नाक की सीध वीरान सड़क को यूँ देखने लगी जैसे वह किसी ग़ैर से बात चीत करने के मूड में बिल्कुल न हो । कराची में अनजान मर्द की कार में अपनी मर्ज़ी से जा बैठने की किस औरत में हिम्मत थी । शाहिद को कुछ ऐसे ही जवाब की उम्मीद थी लेकिन न जाने क्यों उसे यह महसूस हुआ जैसे लड़की पैदल चलते-चलते उकता कर बैठना तो चाहती है लेकिन साथ ही वह बहुत डर भी रही है ।

"देखिए—बारिश के आसार हैं । ख़राब मौसम में यहाँ सवारियाँ मुश्किल से मिलती हैं । शायद आपने मुझे पहचाना नहीं । मैं आप का एकलौता पड़ोसी हूँ—आप की कोठी के बिल्कुल सामने है, हमारा मकान ! —तकल्लुफ़ से काम न लीजिए ।" उसने एक बार फिर कोशिश की । आज उम्मीद के खिलाफ़ उसकी ज़बान बड़ी रवानी से चल रही थी । शायद क़ुदरत को उस पर तरस आ गया, क्योंकि ठीक उसी वक़्त भी बूंदा-बांदी शुरू हो गई । हवा इतनी तेज़ थी कि मुहतरमा छतुरी इस्तेमाल करने की कोशिश करतीं, तो खुद भी छतुरी के साथ उड़ कर क़ब्रस्तान में जा गिरतीं, जिसकी टूटी-फूटी दीवार सड़क के किनारे-किनारे दूर तक चली गई थी । बारिश के शुरू होते ही शाहिद ने फ़ौरन कार का दरवाज़ा खोल दिया और उसके साथ ही लड़की अन्दर आगई और खामोश शाहिद के पास यूँ बैठ गई, जैसे मजबूरन आ तो गई हो लेकिन इस से उसे कोई खुशी न हुई हो । सोसाइटी आफ़िस तक रास्ता खामोशी में गुज़रा । फिर शाहिद ने कहा, "मैं सद्र से होता हुआ जाऊँगा, जहाँ आप को जाना हो बता दीजिए—वहीं उतार दूँगा ।" इस पर कुछ देर सोच कर उसने जवाब दिया, "इम्प्रेस मार्केट के क़रीब उतार दीजियेगा ।"

"परेडी स्ट्रीट पर ?"

"जी नहीं, ग्रामर स्कूल के पास ।"

"क्या आप ग्रामर स्कूल में पढ़ाती है ?" शाहिद ने पूछा । अब के भी कुछ लम्हों बाद जवाब मिला,

"जी नहीं, मारी क्लासो में ।"

"तो मैं आप को स्कूल के फाटक पर क्यों न उतार दूँ ?"

"जी नहीं, ज़रा आगे बढ़ कर रोक लीजिएगा ।" शायद वह यह नहीं चाहती थी कि कोई उसे शाहिद की कार से उतरते देख ले । एक बार फिर रास्ता खामोशी में गुज़रने लगा ।

"मेरा नाम शाहिद है—शाहिद हुसैन ।" उसने अपना तअर्रुफ़ (परिचय) कराया ।

"जी—मेरा नाम सुरैय्या है!" उसने हिचकिचाते हुए अपना नाम बताया। आवाज़ में बड़ा लोच था।

"इस वीराने में तो ज़रूर जी घबराता होगा आप का—किसी दिन हमारे यहाँ तशरीफ़ लाइए न। मैं पहले अपनी अम्मी के साथ आता लेकिन वह बीमार हैं—अगर आप मुनासिब समझें तो मैं तनहा किसी दिन आजाऊँ और आप की मम्मी से मिल लूँ—देखिये न—इस वीराने में ले दे के हमारी ही तो दो कोठियाँ हैं, जो आबाद हैं!" शाहिद ने दोस्ती का हाथ बढ़ाया।

"वह मेरी मम्मी नहीं—ख़ाला हैं!" मुख़्तसर-सा जवाब मिला।

"अच्छा?" शाहिद की समझ में न आया कि इस से ज़्यादा वह क्या कहे। यह लड़की तो बात-चीत के मआमिले में बेहद कंजूस मालूम होती थी। न उसने उसकी दावत को ठुकराया था और न उसकी हिम्मत बढ़ाई थी। न जाने वह किस सोच में डूबी हुई थी, "कई दिनों से आन्टी शदीद (तेज़) नज़ले का शिकार हैं। ज़रा उनकी तबीअत ठीक हो जाय तो आप ज़रूर तशरीफ़ लाइएगा।" उसने कुछ सोच कर यूँ जवाब दिया, जैसे वह नहीं चाहती हो कि फ़िलहाल उनमें बेतकल्लुफ़ी पैदा हो। न जाने वह किस इलाक़े की थो। बड़ी साफ़ और शुस्ता (धुली हुई) उर्दू बोल रही थी।

"पाकिस्तान आने से पहले हम लोग हैदराबाद-दकिन में थे—कुछ दिन दिल्ली में भी रहे—आप शायद हाल ही में पाकिस्तान आई हैं।" शाहिद ने एक बार फिर बात चीत आगे बढ़ाने की कोशिश की।

"हैदराबाद दकिन में?" उसने एकायक चौंक कर कहा और फिर ज़रा-ज़रा दिलचस्पी से मुड़कर यूँ देखा, जैसे वह ग़ौर से उसे देखना चाहती हो।

"जी हाँ—और आप?" शाहिद ने पूछा।

"हम भी हैदराबादी हैं—यानी पिछले साल तक थे।"

अभी बात चीत यहीं तक पहुँची थी कि क्लासो स्कूल आगया और शाहिद ने झुंझला कर सोचा—ज़िन्दगी की हसीन घड़ियाँ कितनी तेज़ी से गुज़र जाती हैं। अभी तकल्लुफ़ की दीवार गिरी ही थी कि उसकी मंज़िल आ गई। मजबूरी थी। उसने ग्रामर स्कूल के क़रीब कार रोक ली और फिर वह चुपके से उतर गई, मुस्कुराकर शुक्रिया अदा किया और तेज़ी से साड़ी संभालती हुई अपने स्कूल की तरफ़ मुड़ गई। बारिश रुक गई थी लेकिन सड़क पर जा-बजा पानी खड़ा था।

इस मुलाक़ात के बाद वह कई दिन नज़र न आई। रोज़ाना शाहिद की बेचैन निगाहें रास्ते भर उसे ढूंढती रहीं। कई दिन उसने घर ही में उसका इन्तिज़ार किया लेकिन वह नज़र न आई। फिर एक दिन उम्मीद

के खिलाफ़ वह सड़क पर नज़र आई, तो शहीद को यूँ लगा, जैसे दुनिया की दौलत उसे मिल गई। अब के उसने शाहिद का कहना फ़ौरन मान लिया और वग़ैर हिचकिचाये उसके क़रीब बैठ गई। अब यह रोज़ का दस्तूर हो गया कि शाहिद तैय्यार हो कर आम-तौर पर उस वक़्त तक घर से न निकलना, जब तक वह सुरैय्या को बाहर निकलते हुए न देख लेता। फिर वह तेज़ी से कार निकालता और घर से कुछ दूर क़ब्रस्तान से क़रीब उसे कार में बिठा लेता। अब वह खासे बेतकल्लुफ़ हो चुके थे, फिर भी अक्सर शाहिद को यूँ लगा जैसे वह किसी वजह से न उसके यहाँ अपनी खाला के साथ आना चाहती थी और न उसे अपने यहाँ बुलाना ही चाहती थी।

उसी दौरान में मुलाज़िम कमालदीन ने एक और हौसला बढ़ाने वाला राज़ खोला। कई दिनों से सुरैय्या की खाला शाहिद और उसकी अम्मी के बारे में नौकरों से पूछ-गछ कर रही थीं। इस खबर से शाहिद फूला न समाया। शुरूआत सचमुच बहुत हौसला बढ़ाने वाली हुई थी!

लेकिन बेगम सलीमा सईद नवाज़ जंग के लिए शुरूआत यक़ीनन हौसला बढ़ाने वाली नहीं हुई थी। जब से सुरैय्या ने उन्हें इत्तिला दी थी कि हामिद जंग की बेवा और बेटा उस सामने की कोठी में रहते थे, उनकी नींद उड़ गई थी। इन हैदराबादी शरीफ़ों ने नाक में दम कर रक्खा था। इनसे कोई शह्र और कोई मुहल्ला महफ़ूज़ नहीं था। हामिद जंग और उनकी बेगम तो उनके सख़्त दुश्मनों में से थे। कई साल से मुलाक़ात नहीं हुई थी फिर भी उनका दिल उन मियाँ बीवी के खिलाफ़ नफ़रत और गुस्से से भरा हुआ था। साईद नवाब की ऐय्याशी की वजह से ख़ानदानी दौलत को घुन तो लग ही चुका था। उस पर ख़ुदा का करना यह हुआ कि रियासत खत्म हो गई। जब दरबार ही न रहा तो फिर दरबारियों को कौन पूछता। सईद नव्वाब का ज़वाल (पतन) शुरू हो गया। वह तो अल्लाह का फ़ज़्ल था कि बड़ी बेगम की दुआएँ क़ुबूल नहीं हुईं। वह बेचारी तो पोते के ख़ाब देख-देख कर मर-खप गईं वरना नाच-गाने वालियों और रंडियों की सरपरस्ती करने वाला एक और पैदा हो जाता। सलीमा बेगम अपने वक़्त की हसीन-तरीन औरत थीं लेकिन फिर भी सईद नव्वाब को हमेशा रंडियों का लूटा हुआ गंदा जिस्म ही भाया और सारी उम्र उन ही ज़लील औरतों से दिल बहलाते रहे। हमेशा आमदनी से ज्यादा ख़र्च किया। हैदराबाद की रियासत खत्म होने के बाद एक सर्द रात को शराब के नशे में धुत घर आये और ठंडे पानी से नहा लिया। सुब्ह होते-होते फ़ालिज का हमला हुआ और शाम तक बड़ी बेगम के क़दमों में जा लेटे।

उनकी अचानक मौत के हफ़्ते भर बाद पता चला कि उनकी माली हालत तो भिकारियों से भी बदतर थी। इससे पहले कि क़ुर्की की नौबत आती, सलीमा बेगम ने चुपके से मैके का बचा-खुचा ज़ेवर लिया और अपनी यतीम भाँजी सुरैय्या के साथ कलकत्ते जा पहुंचीं। वहीं कुछ ज़ेवर बेचा और चुप-चाप ढाका चली गईं। लेकिन खुदा ही समझे इन हैदराबादी रईसों से ढाका पहुंचने के बाद उन्हें पता चला कि दर्जनों बिगड़े नव्वाब उनसे पहले वहाँ आ चुके हैं। एक दिन वह सुरैय्या के साथ नव्वाबपुर रोड पर शापिंग कर रही थी कि कर्नल अल्लामा मिल गये। सारी उम्र अल्लामा साहब ने सईद नव्वाब के तुफ़ैल ऐश किये थे। आखिरी दिनों में विमला रानी की वजह से तअल्लुक़ात ख़राब हो गए थे। बेगम ने तो यह तक सुना था कि यह मुआ अपने पुराने एहसान करने वाले दोस्त के खिलाफ़ अजीब-अजीब खबरें उड़ाता फिरता था। मरने के बाद मुसलमान आम तौर से पुरानी बातें भुला देते हैं और दुश्मन को भी मआफ़ कर देते हैं लेकिन इस ज़लील ने तो हद ही कर दी थी। वह अब सईद नव्वाब के दुश्मनों से मिल कर उनके दीवालियापन का मज़ाक़ उड़ाने लगा था। उसकी शक्ल से बेगम को नफ़रत थी। कई महीनों के बाद यकायक उस दिन नव्वाबपुर रोड पर मिला तो उसने ऐसी तंज़िया (व्यंगपूर्ण) मुस्कुराहट से बेगम से मिला था कि उनके आग ही तो लग गई। हालात ने मजबूर कर दिया था वरना जूती उतार कर वहीं धुनक डालतीं। बड़ी बेगम या, अल्लाह बख्शे, बड़े नव्वाब तो ऐसे नमकहराम कुत्तों की खाल में भुस भर दिया करते थे।

इस वाक़ाये के चौथे ही दिन वह रिक्शे में बैठी चमेलीबाग़ जा रही थीं, जहाँ एक स्कूल में सुरैय्या पढ़ाती थी। यकायक न जाने किस तरफ़ से एक लम्बी-चौड़ी नई कार आई और बिल्कुल उनके रिक्शे के क़रीब रुक गई। इससे पहले कि वह संभल सकतीं, कार की खिड़की में से अमीन नव्वाब की बेगम ने गर्दन निकाल कर पहले तो सलाम किया और फिर ख़ैरियत पूछी। सलीमा बेगम का जी चाहा कि जमीन फट जाये और वह धंस जायें। उन्हें मालूम था कि इस ज़लील औरत ने जान-बूझ कर अपनी कार रूकवाई थी और सरे-बाज़ार उन्हें रुसवा किया था, हाय—न हुये अब्बा हुज़ूर—उनकी ज़िन्दगी में क्या मजाल कि कोई उनकी तरफ़ आँख उठा कर भी देख सकता। सईद नव्वाब.से शादी के बाद भी बेग़म ने बाप की जागीर पर हुकूमत की थी, जहाँ ऐसी-ऐसी सैकड़ों कुत्तियाँ पलती थीं। अमीन नव्वाब की बेगम को देख कर उनका ख़ून खौलने लगा था। यह वह ज़लील औरत थी, जिसने कभी सईद नव्वाब को उनसे छीनने की कोशिश की थी। जब वह

पहली बार मैके से वापस आई थीं, तो उनकी मुँह-चढ़ी नौकरानी छोटी ने यह इत्तिला दी थीं कि उनकी ग़ैर हाज़िरी में सईद नव्वाब और रहीमा बेग़म ने कई चाँदनी रातें गन्डी-पेट में गुज़ारी थीं। इस खबर से उनका दिल बैठ गया था लेकिन फिर उन्होंने बड़ी होशियारी से काम लेकर मियाँ का दिल जीता था और जब तक रहीमा अमीन जंग शह्र में रहीं, बेगम ने अपने मियाँ को उनसे दूर रखने की कोशिश की थी। आज रहीमा ने मौक़ा ताक कर पिछली बातों का ख़ूब बदला लिया था। सरे-बाज़ार उन पर ज़ाहिर किया था कि अब भी वह ऊँची और बलन्द थी—ख़ुदा ग़ारत करे ढाके के साइकिल-रिक्शों को—एक तो बिल्कुल बेपर्दा और दूसरे इतना धीरे-धीरे चलने वाले कि कछुवा भी आगे जा निकले और फिर सड़क धँसे हुये, इतने कि छोटी-सी-छोटी कार के सामने हक़ीर (तुच्छ) लगे। कमबख़्त रहीमा अमीन ने तो इतनी लम्बी चौड़ी कार में बैठ कर सरे-बाज़ार इतनी बलन्दी से उनकी ख़ैरियत पूछी थी, कि पल भर के लिये उन्हें यूँ महसूस हुआ था, जैसे वह ज़मीन पर रेंगने वाला एक हक़ीर (तुच्छ) कीड़ा हों—जैसे किसी ने उन्हें खुले-आम गाली दी हो।

इस वाक़ये के बाद उन्होंने फ़ौरन ढाका से चले जाने का मुकम्मल इरादा कर लिया। वह कराची आ गईं और सूरते-हाल को अच्छी तरह समझने के लिये शुरू के कुछ हफ़्ते पैलेस होटल में ठहरी रहीं। ख़ूब ढूँढ-ढूंढ कर तमाम पुराने मिलने-जुलने वाले हैदराबादियों से मिलीं। उनमें से तमाम ख़ास लोगों को एक दिन पैलेस में खाने पर भी बुलाया। इस शान्दार दावत के बाद ख़ाला भाँजी ने बैठ कर हिसाब किया तो पता चला कि बहुत थोड़ी-सी पूँजी बच रही है। यही कोई दो तीन हज़ार—बहुत सोच-विचार के बाद यह फ़ैसला हुआ कि होटल को फ़ौरन छोड़ दिया जाय और हाउसिंग सोसाइटी के किसी सुनसान हिस्से में छोटी-सी कोठी किराये पर ली जाय और जहाँ तक हो सके अपनी अलग-थलग ज़िन्दगी गुज़ारी जाय। अब उन्हें क्या मालूम था कि यहाँ आने के बाद भी बद-नसीबी उनका पीछा नहीं छोड़ेगी और उनकी एकलौती पड़ोसी—बेग़म हामिद जंग निकलेंगी, जिनका खान-दान पुश्तहा-पुश्त से सईद नव्वाब के ख़ानदान से ख़ार खाये बैठा था। इन तल्ख़ (कड़वी) बातों से नींद का उड़ जाना लाज़िमी था। अब भी कुछ नहीं गया था। वह मरते मर जायेंगी लेकिन अपनी ख़ानदानी शान और भरम क़ायम रक्खेंगीं। उन्हों ने एक अंधेरी रात को बिस्तर पर करवटें लेते हुए सोचा—। दुश्मनों को वह अपनी ग़रीबी और बदहाली का मज़ाक़ उड़ाने का कभी मौक़ा नहीं देंगी। उन्होंने पक्का इरादा कर

लिया। नौ उम्र शाहिद से उन्हें कोई अन्देशा नहीं था, क्योंकि हैदराबाद में रहने के दौरान में वह नासमझ था। सारा डर उन्हें बेगम हामिद जंग से था, जिनसे कई साल से मुलाक़ात नहीं हुई थी।

भरम क़ायम कर लेने का इरादा तो आसान था लेकिन उसे अमल में लाना मुश्किल हो गया। सुरैय्या को नौकरी मिल जाने के बाद भी मुश्किल से गुज़र होती थी। घर वाले ने पेशगी किराया लेकर उन्हें बिल्कुल कंगाल कर दिया था। सुरैय्या ने शाहिद के बारे में बड़ी राज़दारी से काम लिया था लेकिन उन्हें पता चल ही गया। सुरैय्या ने वादा तो किया था कि वह शाहिद से मिलना छोड़ देगी लेकिन फिर भी उन्हें अन्देशा था कि कहीं यह मुलाक़ातें ख़तरनाक सूरत न अख़्तियार कर जायें। दिमाग़ एक बार फिर बचाव की तरकीबें सोचने लगा। खासी रात गये उन्हें एक तरकीब समझ में आई। सुरैय्या का अब इस मुहल्ले में रहना मुनासिब नहीं था। इसलिये उन्होंने उसके लिये दवाओं की एक कम्पनी में नौकरी ढूँढ निकाली, जिसके कारख़ाने में बहुत-सी ग्रेजवेट लड़कियाँ काम करती थीं। चूँकि यह कारखाना शह्र से बहुत दूर था, इसलिये कम्पनी ने वहीं क़रीब ही औरतों के लिये होस्टल खोल रक्खा था। सुरैय्या को फ़ौरन वहीं भेज दिया गया। सुरैय्या से जुदा होते हुये उन्होंने सख़्ती से ताकीद कर दी कि वह आइन्दा किसी हैदराबादी से मेल-जोल न बढ़ाये—ख़ास तौर पर शाहिद और उसकी अम्मी से, जो उनके ख़ानदानी दुश्मन थे।

सुरैय्या के चले जाने के बाद अब वह कोठी में तनहा रह गईं। ख़ुदा ग़ारत करे सईद जंग की बेवा को! उस कमबख़्त औरत की वजह से न जाने क़िस्मत में और कितनी परीशानियाँ लिक्खी थीं। अब यह घर काटने को दौड़ता। न तनहा रातें गुज़रतीं और न दिन। मजबूरन दूध वाले से कह कर माली और एक लड़का नौकर रख लिया ताकि लोगों को पता तो चल सके इस कोठी में बड़े घर की बेगम रहती हैं। माली के आने के बाद वह बाक़ायदा अपना एकलौता क़ीमती हाउस-कोट पहन कर बग़ीचे में पौदों की देख-भाल के लिए दिन में कई-कई बार घर से बाहर आतीं और खासा वक़्त बाहर गुज़ारतीं। हफ़्ते में एक-आध बार वह अपने और सुरैय्या के क़ीमती कपड़ों को ज़रूर धूप देतीं, ताकि पड़ोसी देख सकें कि उनके पास आज भी कैसे-कैसे क़ीमती कपड़े थे। कपड़े ज़्यादातर छत पर फैलाये जाते, ताकि किसी को यह पता न चल सके कि उनमें से एक भी ऐसा न था जिसे कीड़ों ने चाट न रक्खा हो। काफ़ी तौर पर पहने जाने की वजह से यह बड़ी ख़राब हालत में थे लेकिन फिर भी दूर से खासे अच्छे लगते थे। यह मुसीबत सिर्फ़ कुछ महीनों की थी। उन्हें यक़ीन था कि

क्लेम के पैसे उन्हें बहुत जल्द मिल जायेंगे और उसी के साथ ही सारे दलिद्दर घुल जायेंगे और ज़िन्दगी की तमाम ख़ूबसूरतियाँ एक बार फिर लौट आयेंगी।

ज़िन्दगी की ख़ूबसूरतियाँ इतनी आसानी से कहाँ लौटती हैं। सुरैय्या यकायक कहीं चली गई, तो उसके साथ ही शाहिद के लिये ज़िन्दगी में कोई दिलकशी न रही। ऐसा कोई ज़रीआ न था कि वह सुरैय्या का पता ठिकाना जान सकता। कई बार उसने बेगम सईद नवाज़ जंग से मिलने का इरादा किया लेकिन फिर उसकी हिम्मत ने साथ छोड़ दिया। जाने वह क्या समझें। न मिलना, न जुलना—बस चले आये लौंडिया के फ़िराक़ में! —अगर बड़ी बी ने उलटे सीधे सवाल किये तो क्या जवाब देगा वह?—उसने उनसे मिलने का इरादा बदल दिया।

गर्मियाँ गुज़र गईं और फिर सर्दियाँ आ गईं। सुरैय्या को गये कम-से-कम चार महीने तो ज़रूर हो चुके होंगे। बड़ी बी के मिजाज़ का वही आलम रहा। दो चार हफ़्तों तक उनके यहाँ एक माली और मुलाज़िम लड़का नज़र आने लगे थे लेकिन शायद वह बड़ी बी की झक्की तबीअत को बरदाश्त न करके जल्द नौकरी छोड़ गये। अब वह हमेशा बाग़ीचे में अकेली नज़र आतीं। हर तीसरे दिन दिन बड़ी बाक़ायदगी से छत पर कमख़ाब और अतलस के कपड़े नज़र आते। दूध वाला उसी तरह पुरअसरार (रहस्यपूर्ण) अन्दाज़ में मुँह अंधेरे आता, उसी तरह दिन को नौ-दस बजे भंगिन कुत्ते को नहलाती, ज़िन्दगी का मामूल अपनी जगह पर था। सिर्फ़ सुरैय्या ला पता थी!

एक दिन एक अजीब वाक़या पेश आया। पिछली रात से बारिश हो रही थी। अच्छी ख़ासी सर्दी तो थी ही। अब सुब्ह से कोयटे की बर्फ़ीली हवायें चलने लगी थीं। शाहिद को हल्का-सा बुख़ार था। इस लिये उसने छुट्टी ले ली थी। दोपहर के खाने के बाद वह अपने सोने के कमरे में बैठा कुछ खेल रहा था कि यकायक कमालदीन अपने पीले-पीले दाँत निकाले तेज़ी से आया और उसने इत्तिला दी कि एक बेगम साहबा आई हैं—वही सामने की कोठी की छोटी बीबी!

पहले तो शाहिद को अपने कानों पर यक़ीन न आया। वह भौंचक्का कुछ देर हवन्नक़ों की तरह मुँह खोले उसे देखता रहा।

"छोटी बीबी आई हैं साहब—आपसे फ़ौरन मिलना चाहती हैं। पहले बेगम साहबा को पूछा था फिर यह जान कर कि आप घर में हैं आपको बुलवाया—वह ड्राइंग रूम में हैं।"

अब तो शक की कोई गुंजाइश नहीं थी! वह तेज़ी से उठा। ड्रेसिंग गौन पहना और ड्राइंग रूम में आया। वह उसकी तरफ़ पीछा किये खिड़की से अपनी कोठी की तरफ़ देख रही थी।

आज उसने सफ़ेद शल्वार और आसमानी रंग की सादा क़मीज़ पहन रक्खी थी। चोटी के बजाये सर पर बड़ा-सा जूड़ा था। उसके क़दमों की आहट सुन कर वह मुड़ा।

"माफ़ कीजिये—मैं —!!!" उसने बात शुरू ही की थी कि शाहिद ने फ़ौरन कहा,

"हाँ-हाँ जानता हूँ कि आप सुरैय्या हैं—व्हाट ए प्लीज़ेन्ट सरपराइज़—आप इतने दिन थीं कहाँ?—अब आईं?—कैसी हैं आप?—मैंने तो आपको ढूंढ निकालने की बहुत कोशिश की लेकिन—खुदा की क़सम—!!!"

जाने वह और क्या कहना चाहता था कि सुरैय्या ने उसे फ़ौरन रोका,

"खुदा के लिये मेरे साथ चलिये—मुझे लगता है खाला को कुछ हो गया है!"

"कुछ हो गया है? क्या मतलब?" शाहिद की समझ में कुछ न आया।

"हर हफ़्ते की शाम को वह मुझसे मिलने आती थीं। अब के नहीं आईं और न कोई ख़बर ही भिजवाई। हफ़्ते के बाद इतिवार, दोशम्बा और मंगल गुज़र गये और उन्होंने मुझे फ़ोन तक नहीं किया। आखिर को घबरा कर मैंने छुट्टी ले ली और यहाँ आई। आध घंटे से दरवाज़ा खटखटा रही हूँ—कोठी चारों तरफ़ से बन्द है सिर्फ़ बावर्चीखाना (रसोई घर) खुला है, जहाँ रोज़ाना दूध वाला उन्हें जगाये बग़ैर दूध रख जाया करता था। आज सुब्ह का दूध ज्यों का त्यों रक्खा है। कुत्ते की हालत भी ऐसी है कि लगता है जैसे वह कई दिन से भूका हो—खुदा के लिये मेरे साथ चलिये।"

उसका रंग पीला पड़ गया और वह बेहद घबराई हुई लग रही थी।

बारिश की परवा किये बग़ैर दोनां तेज़ी से वहाँ पहुंचे और फिर शाहिद ने ज़ोर लगाकर पहले बरामदे का दरवाज़ा तोड़ा और फिर बेड-रूम का। आसमान बादलों से घिरा हुआ था। कमरे की दोनों खिड़कियाँ बन्द थां और बारिश की वजह से अन्दर रौशनी कम थी लेकिन पलक झपकते ही शाहिद की नौजवान आँखें सब कुछ भाँप गईं।

न जाने उनका दम कब निकल गया था। अब तो लाश चारपाई पर अकड़ी पड़ी थी। चारपाई पर पतला-सा गद्दा था, बहुत ही मैली पेवन्द लगी चादर थी और पैरों पर एक बहुत ही फटा-पुराना कम्बल था। जिस्म पर सिवाय उस क़ीमती लेकिन पुराने हाउस-कोट के और कुछ नहीं था, जिसमें वह अक्सर शान के साथ बाग़ीचे में चहल क़दमी किया करतीं। खिड़कियाँ और दरवाज़े—पर्दों से ख़ाली थे और कमरे में सीलन थी—बदबू भी और सख़्त सर्दी भी!

जब तक वह बेगम की नब्ज़ टटोलता रहा, सुरैय्या दम साधे खड़ी रही लेकिन जूंही शाहिद ने उनकी अध-खुली आँखें बन्द करने की नाकाम कोशिश की, वह चींख मार कर ख़ाला

से लिपट गई और रोने लगी। कुछ देर तक शाहिद बेबसी के आलम में खड़ा सब कुछ देखता रहा फिर उसने आहिस्ता से सुरैय्या को उठाया और कहा।

"हिम्मत से काम लो सुरैय्या— ख़ुदा की मर्ज़ी में इन्सान को क्या दख़्ल—काश अम्मी ठीक होतीं, तो मैं उन्हें यहीं ले आता। अब तो तुम्हें ही हमारे यहाँ चलना होगा। अपनी आँखों को रौशनी खोने के बाद कई साल से वह बिल्कुल चलने-फिरने से भी मजबूर हो गई हैं।" उसकी बातें सुनकर सुरैय्या बुरी तरह चौंक गई।

"तो—तो क्या—आप की अम्मी— यानी बेगम हामिद जंग अंधी—यानी क्या वाक़ई वह अपनी आँखों की रौशनी खो चुकी हैं?" उसने रोते-रोते चौंक कर यूँ पूछा, जैसे इस एक सवाल के जवाब पर बहुत कुछ मुनहसिर हो।

"हाँ-हाँ—वह बेचारी तो कई साल से नाबीना (अंधी) हैं!...कुछ नहीं देख सकतीं!!!" शाहिद ने जवाब दिया।

यह सुनना था कि सुरैय्या चीख़ मार कर एक बार फिर ख़ाला से लिपट गई।

"ओ ख़ाला—यह क्या हो गया ख़ाला—काश आपको पहले ही पता चल जाता—आपने तो ख़ाहमख़ाह जान दे दी ख़ाला—! वह तो अन्धी हैं!!!"

वह एक बार फिर फूट-फूट कर रोने लगी और अब के शाहिद ने चौंक कर सुरैय्या को यूँ देखा, जैसे वह उर्दू नहीं बल्कि यूनानी बोल रही हो!

अरब का वाक़या है। एक आदमी अपने पड़ोसी के पास उसका गधा उधार माँगने गया। पड़ोसी ने बहाना कर दिया, "भई! मेरा गधा इस वक़्त मौजूद नहीं, कोई दूसरा आदमी माँग ले गया है!"

इतने में मकान से गधे के बोलने की आवाज़ आई।

"कहिये साहब?" उसने तंज़ से पूछा, "आप तो कहते थे गधा नहीं है फिर यह आवाज़ किस की है?"

पड़ोसी बिफर कर बोला, "आप मेरे मकान से फ़ौरन चले जाइये! मैं ऐसे आदमी से बात भी करना पसन्द नहीं करता, जो आदमी से ज़्यादा जानवर की बात का एतबार करे!"

व्यंग

● शकूर बेग 'मिर्ज़ा'
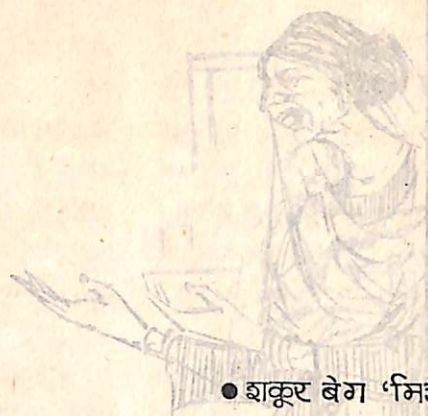
मिली फ़ुर्सत न अपने अक़्द[1] की बेचारी क़ाज़ी को
मगर ये काम क्या कम है कि वो औरों के काम आया
पड़ी है आजकल आशिक़ की सेहत ऐसे चक्कर में
गया नज़ला, हुई खाँसी, गई खाँसी, ज़ुकाम आया
वकालत करके गुमनामी की हालत में रहे 'मिर्ज़ा'
प्लीडर से बने लीडर, तो अख़बारों में नाम आया

मुमकिन न हो तो आने का वादा न कीजिये
हम टापते रहें कहीं ऐसा न कीजिये
देनी हो जो सज़ा वो दिया कीजीये मगर
पब्लिक के सामने हमें रुसवा न कीजिये
हम मर गये तो आप पर आख़िर मरेगा कौन
कहते हैं इस लिए हमें कोसा न कीजिये

मोटर मिले, मकान मिले, सीमो-ज़र[2] मिले
सब कुछ मिले ख़ुसर,[3] की तरफ़ से मगर मिले
है जिस के दिल में दर्द वो इन्साँ नहीं मिला
लीडर मिले, वकील मिले, डाक्टर मिले

१—निकाह, विवाह की गाँठ, २—चाँदी और सोना, ३—ससुर।

मुमताज़ मुफ़्ती

माँ

बुढ़िया का दोपट्टा बाजुओं पर गिरा हुआ था। गर्द में अटी हुई बालों की एक लट मुँह पर आ पड़ी। वह गुस्सा भरी निगाहों से नीचे चौगान की तरफ़ घूर रही थी। सलाख़दार खिड़की में उसे यूँ बैठे देख कर ऐसा मालूम होता था, जैसे वह जगह पागलखाने का एक हिस्सा हो।

रयाज़ की चीख सुनकर वह दीवानों की तरह उठी, "हाय अल्लाह!" उसने दोनों हाथों से सीना थाम लिया और सीढ़ीयों की तरफ़ भागी, "क्या हुआ मेरे लाल को?" रयाज़ को बिसोरते हुए आते देख कर एक पल के लिये बुढ़िया ने इतमीनान का साँस लिया, "तौबा! मैंने कहा न जाने क्या हो गया। तौबा!"

●

उनकी बातें सुन कर बुढ़िया ने सर पीट लिया और लगी तमाम बाज़ार वालों को कोसने। बाज़ार वाले उसके कोसने सुन कर एक-दो बार दबी आवाज़ से हँसे। फिर यूँ ख़ामोश हो गये जैसे कोई बात हो न हो, जैसे वह बुढ़िया न जाने किसको सलवातें सुना रही हो।

●

बेटे की ख़ैरियत से मुतमइन (सन्तुष्ट) हो कर बुढ़िया ग़ुस्से में ग़ुर्राने लगी, "किसी ने मारा है तुझे? जाजी! तू कुछ बतायेगा भी या नहीं? मैं कहती हूँ क्यों रो रहा है तू? गिर पड़ा था क्या? धक्का दिया है किसी ने? इधर आ।" उसने लड़के को बाज़ू से पकड़ कर अपनी तरफ़ घसीटा और सर पर हाथ फेर कर लाड से बोली, "एक बार तू अपनी माँ को बता दे फिर देखियो। तू तो मेले जिगर का टुकड़ा है। हाँ-हाँ कुछ बोल तो सही।" रयाज ने दो एक झूटी हिचकियाँ लीं और बोला, "बेदी ने मेरा घर!" "क्या किया है बेदी ने?" बुढ़िया चिल्लाई। "मेरा घर?" जाजी बिसोरने लगा। "क्या किया है उसने तेरे घर को?" "तोड़–दी—याहै।" जाजी हिचकियाँ लेते हुए बोला। "कौन-सा घर?" बुढ़िया ने पूछा। "तू कुछ बतायेगा भी या नहीं।" "जो मैंने बनाया था!" जाजी मुँह ही मुँह में बड़बड़ाया। "ईंटों से! मैं पूछती हूँ।" बुढ़िया उठ बैठी। "तेरा घर तोड़ने वाली वह है कौन नाक-कटी! कमीनी!! आ तो ले यहाँ वह छोकरी, मैंने उसकी टाँगे न तोड़ी तो। बड़ी बनी फिरती है नव्वाबज़ादी। बच्चों के घर तोड़ने हुए शर्म तो नहीं आती।" ज्यों-ज्यों वह खिड़की के क़रीब आती गई उसकी आवाज़ ऊँची होती चली गई। खिड़की के पास पहुँच कर उसने जाजी को चटाई की तरफ़ ढकेल दिया, जो कमरे के एक तरफ़ बिछी हुई थी और फिर दोनों हाथ कमर पर रख कर खिड़की में जा खड़ी हुई। "दुहाई ख़ुदा की!" उसने दाहना हाथ चला कर यूँ बात शुरू की, जैसे नीचे में सुनने वालों की भीड़ इकट्ठा हो,

'जब भी लड़का खेलने निकलता है, यह छोकरी उसे तंग करती है। चुड़ैल कहीं की। अब अम्माँ की गोद में जा छिपी है दौड़ कर। कोई पूछे तुझे इस बात से मतलब? चाहे वह घर बनाये या हवेली। तू क्यों जल-कट जाती है। मेरा बेटा तो यहीं खेलेगा। इसी मैदान में। हाँ यहीं घर बनायेगा और मैं देखूँगी कौन तोड़ता है उसे। बड़ी लाडों तो देखो, जो लोगों के घर तोड़ती फिरती है। लाडो है तो अपनी माँ की होगी। जा बैठा कर उसकी गोद में। यहाँ मैदान में तो बच्चे खेलेंगे। क्यों न खेलें, हाँ! यह मैदान है किसी का इजारा नहीं इस पर।" बोलते-बोलते बुढ़िया का दम चढ़ गया। मुँह से झाग निकलने लगा। इसी बीच में कुछ देर के लिये वह खामोश हो कर चारों तरफ़ देखती रही। पास-पड़ोस के घरों पर ख़ामोशी छाई हुई थी। चारों तरफ़ सन्नाटा मालूम होता था। खिड़कियाँ खाली पड़ी थीं। कोई आदमी या जानवर हरकत करता हुआ दिखाई न देता था। दूर सामने धुयें का एक लम्बा-सा चक्कर लहरा रहा था और चक्की यूँ हाँक रही थी जैसे दबी आवाज़ में उसको मुँह चिड़ा रही हो। यह छाई हुई ख़ामोशी बुढ़िया बरदाश्त नहीं कर सकती थी। वह चाहती थी कि कोई उसके सामने आकर उसकी बातों का जवाब दे या जवाब नहीं दे तो उसकी बातें ही सुने। लेकिन वह ख़ामोशी, जैसे वह यूँ महसूस कर रही थी........वह ख़ामोशी उसे चिढ़ा रही हो। मुहल्ले वाले ख़ामोशी की ओट में उस पर हँस रहे हों। उसकी बात का मज़ाक़ उड़ा रहे हों। यह महसूस करके ग़ुस्से से उसकी आँखें सुर्ख़ हो गईं और वह ताज़ा-दम होकर फिर से ग़ुर्राने लगी, "अब क्यों नहीं बोलती। सच्ची है तो सामने आये न! कहते हैं झूटे के पाँव नहीं होते, जभी तो सामने आ कर खड़े होने की हिम्मत नहीं पड़ती। पर मैं बताये देती हूँ। अब के लड़के की तरफ़ उंगली उठाई तो नाक-चोटी काट लूँगी हाँ।"

आहिस्ता-आहिस्ता बुढ़िया की गरज धीमी पड़ती गई। यहाँ तक कि ग़ुर्राने के बजाय उसने बड़बड़ाना शुरू कर दिया। खिड़की के साथ वाली अल्मारी से कटोरे में दाल डाली और खिड़की में बैठ कर उसमें से कंकर चुनने शुरू कर दिये। इसके बावजूद उसकी बड़बड़ाहट में कोई फ़र्क़ न आया। यहाँ तक कि उसे यह ध्यान भी न रहा कि वह बड़बड़ा रही है और बेदी की माँ ही नहीं, बल्कि सारे मुहल्ले को कोस कर रही है।

बुढ़िया का दोपट्टा बाहों पर गिर गया। गर्द से अटी हुई बालों की एक लट मुँह पर आ गिरी। सलाख़दार खिड़की में उसे यूँ बैठे देख कर ऐसा मालूम होता था जैसे वह मकान पागलख़ाने का कोई हिस्सा हो।

यकायक बुढ़िया ने मुड़ कर चटाई की तरफ़ देखा। वहाँ स्याज़ का निशान

तक न था। "हाय रे!" उसने दोनों हाथों से सीना थाम लिया, "लो फिर ग़ायब हो गया। हज़ार बार कहा है, अपने घर में आराम से बैठा कर। पर उसकी क़िस्मत में आराम से बैठना हो भी। इन शैतानों से मिले बग़ैर चैन नहीं पड़ता।" उसने दाल का कटोरा खिड़की मे रख दिया और उठ खड़ी हुई, "न जाने कहाँ गुम हो गया है। हाय कितना प्यार है उसे अपने साथियों से, चाहे वह उसे पीटते ही क्यों न रहें। उनके बग़ैर पल भर नहीं रह सकता। उसे क्या मालूम कि लोग कैसे बैरी हैं? उसकी जाने बला। जाजी, ओ जाजी!" बुढ़िया ने सीढ़ियों के क़रीब जा कर आवाज़ दी। और फिर दो एक पल के लिये चुप खड़ी रही। "अब वह कहीं हो तो जवाब दे। न जाने कहाँ चला गया है। तौबा! यूँ दबे पाँव पास से निकल जाता है कि आहट तक नहीं होती। अब मैं क्या इन्तिज़ाम करूँ इस लड़के का।" बुढ़िया ने सीढ़ियों में झाँकते हुए कहा। अभी रोता हुआ आजायेगा। कोई धक्का देगा या मुँह पर थप्पड़ मार देगा। इस मुहल्ले के बच्चों का क्या भरोसा है।" वह सीढ़ियाँ चढ़ते हुये बड़बड़ा रही थी, "ऐसे चालाक हैं यह सब। और जाजी उसे तो कुछ पता ही नहीं दुनिया का।"

कोठे पर परले कोने जाजी, भप्पू और नज्जू को खेलने में लगा हुआ देख कर एक साइत के लिये वह ठिठकी। फिर उसके होंटों पर हल्की-सी मुस्कुराहट आ गई। लेकिन जल्द ही उसके चेहरे पर ख़तरनाक क़िस्म की संजीदगी (गम्भीरता) छा गई। भवें तन गईं और कूल्हों पर हाथ रखकर वह यूँ खड़ी हो कर बच्चों की तरफ़ देखने लगी जैसे कोई पुलिस वाला किसी को जुर्म करते हुये देख कर बड़ी शान से उसे घूरता है।

कोने में भप्पू बैठी थी। उसके सर पर टाट का पुराना टुकड़ा घूँघट की तरह लटक रहा था। नज्जू घुटने टेके उसके घूंघट को सँवार रहा था और जाजी सियाही से अपने मुँह पर मोंछ बना रहा था। "बस अब ठीक है!" नज्जू बोला, "है न भई? तुम हो घर वाली और मैं घर वाला।" यह सुन कर जाजी ने वह ठीकरा फेंक दिया, जिसमें तवे की सियाही पड़ी थी। "ऊँ" वह बिसोरने लगा, "घर वाला तो मैं हूँ।" नज्जू हँसा। "तुम?" उसने ज़लील नज़रों से उसे देखते हुये कहा। "क्यों भप्पू?" जाजी ने झुक कर उसका घूंघट उठाया। "यह देखो मेरे मुँह पर मोंछ भी है। है न भई और नज्जू के मुँह पर तो कुछ भी नहीं।" "मोंछ का क्या है।" नज्जू बेपरवाई से बोला, "यह लो!" उसने उगली से ओंट पर सियाही लगाते हुए कहा। "जाजी तू मेहमान है, मेहमान जो घर में आया करते हैं मिलने के लिये, वह मेहमान।" "यह घर तो हमारा है।" जाजी चीख़ने लगा, "मिलने

तो तुम आये हो। क्यों भप्पू ?" "उसने दुल्हन से पूछा, हाँ !" वह बोली, "हम दोनों मिलने आये हैं. मैं और भप्पू।" नज्जू ने घमंड से भप्पू की तरफ़ देखा, "हम दोनों मेहमान हैं तुम्हारे।" नज्जू ने कहा। "तो फिर हम नहीं खेलते।" जाजी बिसोरने लगा। घर वाली ने अपना घूघँट उतार कर परे फेंक दिया। अचानक उसकी निगाह बुढ़िया पर पड़ी और सहम कर पीछे हट गई। नज्जू ने जाजी की माँ को देखा तो नज़र बचा कर सीढ़ियों की तरफ़ भागा। जाजी सहमा हुआ खड़ा का खड़ा रह गया और माँ की तरफ़ न देखने की कोशिश करने लगा। "हज़ार बार कहा है तुझसे..." बुढ़िया ग़ुर्राई "कि भप्पू और नज्जू के साथ न खेला कर। अभी तो कल ही भप्पू ने तेरा पैसा चुरा लिया था। चोट्टी कहीं की। घर वाली बन कर तेरे पैसे चुरा लेती है। मक्कार! तौबा ज़रा-सी लड़कियों को कितने फ़रेब करने आते हैं। क्या ज़माना आया है। और वह नज्जू ! अल्लाह बचाये उससे।" बुढ़िया ने लपक कर जाजी का बाज़ू पकड़ लिया और घसीट कर सीढ़ियों तक ले आई, "कहती हूँ यह जोड़ा दूर ही रहे तो अच्छा है। लेकिन तू सुने भी तो किसी की। आ अब चल नीचे।" उसकी आवाज़ में ग़ुस्से और प्यार की मिली जुली अजीब-सी झलक थी, "नज्जू की माँ तुझे अपने घर जाने देती है क्या! हूँ! अभी तो कल ही कह रही थी ऐ है कितना गन्दा है तू जा, घर जा कर मुँह धो आ क्यों? मेरे लाल का मुँह देखा नहीं जाता क्या? अपने का तो मुँह देखे कभी पानी तक नहीं छुआ। अल्लाह मारी नाक बहती है, छिल्के जम जाते हैं। और वह भप्पू की बहन नाक चढ़ाये बग़ैर बात नहीं करती। ले बैठे यहाँ!" बुढ़िया ने रयाज़ को चटाई पर ढकेलते हुए कहा। रयाज रोने लगा। उसे रोते देख कर बुढ़िया का ग़ुस्सा एक दम दूर हो गया। प्यार से दोनों हाथ उसके मुँह पर फेर कर बोली, "न मेरे लाल रो न तू। मैं तो तेरे लिये भले की कहती हूं। तू नहीं जानता यह नज्जू और भप्पू तो दोनों भुतने हैं, भुतने और तू। तू तो इस घर का जलता हुआ चराग़ है, तू क्या जाने इन्हें, यह तो सब चालाक हैं, मतलब के वक़्त आ जाते हैं। हां! इनके साथ न खेला कर तू!"

"मैं तो नहीं खेल रहा था उनके साथ।" जाजी मुँह लटका कर बोला, "वह खेल रहे थे मेरे साथ। नज्जू ने मुझे बुलाया था और मैं उसके साथ ऊपर चला गया।" "हाँ मेरे लाल!" बुढ़िया उसे पुचकारने लगी, "तुझे क्या मालूम जो भी प्यार से बुलाये तू उसके पास चला जाता है।" "प्यार से तो नहीं बुलाया था।" जाजी चमक कर बोला। "वैसे ही बुलाया था।"

बुढ़िया खिलखिला कर हँस पड़ी। बढ़ कर रयाज को सीने से लगा

लिया, "तेरी जाने बला।" रयाज़ ने उसे मुस्कुराते हुये देखा तो बोला, "अम्माँ इस वक़्त तो कोई नहीं बुला रहा मुझे।" "अब तो दफ़ा हो गये हैं।" माँ ने जवाब दिया। "तो अब जाऊँ मैं?" रयाज़ ने शौक़ से पूछा। "कहाँ जाओगे तुम?" वह मुस्कुरा कर बोली। 'बाहर!" रयाज़ ने बाज़ार की तरफ़ इशारा किया। "कैसी अच्छी दुकाने सजी है वहाँ। नज्जू कहता था—"अचानक अपनी ग़लती सहसूस करके वह रुक गया। बस तू फिर उस काले मुँह वाले नज्जू से जा मिलेगा।" बुढ़िया ने फिर ग़ुस्से से कहा। "नहीं अम्माँ!" रयाज़ बोला, "वह मुझे घर वाला नहीं बनने देता। मैं उससे नहीं खेलूँगा।" यह सुनकर बुढ़िया फिर हँसी, "अभी से घर वाला बनने का शौक़ है तुझे। आख़िर अपने बाप का बेटा है न!" बुढ़िया की मुस्कुराहट में एक दबी-दबी आह झलक रही थी "तीन ब्याह किये।" वह आँसू पोंछते हुए बोली, "पर दिल नहीं भरा।" "घर वाले का तो घर होता है अम्माँ।" रयाज़ अपनी ही धुन में बोला "और मेहमान का तो घर भी नहीं होता।" "घर!!" बुढ़िया ने इस सुंसान कमरे को देख कर एक लम्बी आह भरी। रयाज़ ने अपने-आप में खोये हुये देखकर अलमारी में से टूटा हुआ कबूतर उठा लिया और चुपके से सीढ़ियों की तरफ़ चल पड़ा। अचानक बुढ़िया ने महसूस किया कि वह जा रहा है। पल्लू से आँखें पोंछ कर वह सीढ़ियों की तरफ़ भागी, "जाजी किसी से खेलो नहीं। जाजी और देखियो मोटर, टाँगे का ख़याल रखियो।" लेकिन रयाज़ जा चुका था। एक लम्बी आह भर कर वह वापस खिड़की में आ बैठी। एक बार फिर कमरे को देखा और हाथ से सर थाम कर बैठ गई।

"घर!" बुढ़िया की आँखों में आँसू आ गये। रयाज़ की छोटी-सी बात ने उसके दिल के तारों को छेड़ दिया था। बीती हुई बातें उसके दिल में ताज़ा हो रही थीं—जब वह घर पर था और वह घर वाली थी। जब घर में घर वाला उसके साथ रहा करता था। अब तो वह घर खंढर से भी बदतर था। फटी-पुरानी टूटी हुई चीज़ें चारों तरफ़ बिखरी हुई थीं। घर वाला न हो तो घर-घर नहीं होता। उसने सोचा यही जगह पहले कितनी साफ़-सुथरी हुआ करती थी, जहाँ जाजी के अब्बा की चारपाई होती थी। वहाँ उसका हुक़्क़ा पड़ा होता और उस खूँटी पर पगड़ी। उसने एक लम्बी आह भरी। एक बार फिर पल्लू से आँखें पोंछी, कुरते से नाक साफ़ की और फिर ठूढ़ी हाथ पर रख कर बैठ गई।

कमरे में चारों तरफ़ टूटी-फूटी चीज़ों ने ऊधम मचा रक्खा, जैसे इन चीज़ों को पता चल गया था कि अब घर-घर नहीं रहा, वह उजड़ चुका है। बुढ़िया ने ग़ौर से अलमारी में पड़े

खिलौनों की तरफ़ देखा। पल भर के लिये उसकी आँखें ख़ुशी से चमक उठीं। उसके ज़ेहन से सौत का ख़याल उतर गया। "अपनी जान खाये।" वह बोली, "चाहे कहीं रहे। मुझे क्या। मेरा अपना लाल जीता रहे। ख़ुदा ज़िन्दगी बड़ी करे। उसके होते हुये मुझे किस चीज़ की कमी है। अल्लाह रक्खे जवान होगा। घर चाँद-सी बहू लायेगा। फिर से घर-घर बन जायेगा। मैं भी पागल हूँ, जो बेकार घर वाले के बारे में सोचती हूँ।"

निचली सीढ़ियी से दबी हुई चीख़ की आवाज़ सुन कर वह चौंकी और भाग कर उधर गई। "या अल्लाह ख़ैर कर! कौन है?" उसने सीढ़ियों में मुँह डाल कर पूछा। कोई जवाब न मिलने पर वह नीचे उतर गई। सब से निचली सीढ़ी पर बेदी गिरी पड़ी थी। उसे देख कर बुढ़िया ने दोनों हाथों से कलेजा थाम लिया। "तौबा मैं समझी—" अचानक वह रुक गई और इत्मीनान का साँस लेकर बोली, "हज़ार बार समझाया है तुम्हें कि ध्यान से सीढ़ियों पर पाँव धरा करो लेकिन तुम सुनो भी किसी की। हर बात में शरारत, हर बात में शोख़ी। अच्छा हुआ अपने किए की सजा पाई। सुब्ह तुम्हीं ने जाजी का घर तोड़ा था न! उसे धक्का दिया था न तूने? अब मालूम हुआ कि गिर कर कैसे चोट लगती है। ऐसा ही होना चाहिए था तुम्हारे साथ, जो औरों को धक्के दे, उसको यही सजा मिलती है। अल्लाह बड़ा इन्साफ़ करने वाला है। हाँ!"

बुढ़िया को देखते ही बेदी को रोना भूल गया। वह सहम कर पीछे हटी और फिर उठ कर भाग गई।

"तौबा!" बुढ़िया उसे भागते हुए देख कर चिल्लाई, "यह सब भुतने हैं भुतने। किसी बात का असर नहीं होता इन पर। ढीट कहीं के! चोट खाकर भी आराम नहीं आता इन्हें। इन पर ख़ुदा की मार। यूँ दूर भागते हैं मुझ से जैसे, मैं कोई डाइन हूँ। कहते हैं कोई नसीहत की बात न करे। जैसा जी में आये करें। कोई रोकने वाला न हो। तौबा क्या ज़माना आया है।" बड़बड़ाते हुये वह कोठे पर चढ़ गई। "मुझे क्या ज़रूरत पड़ी है किसी को नसीहत करने की। चाहे हर रोज़ सीढ़ियों में गिरे मुझे क्या। लेकिन गिरने के लिए क्या हमारी सीढ़ियाँ ही रह गई हैं। गिरना ही है तो कहीं और जाकर गिरे लेकिन उन्होंने तो मेरे माथे पर ही कलंक का टीका लगाने की क़सम खा रक्खी है। अब अल्लाह करे वह लड़का ख़ैर-ख़ैरियत से घर वापस आजाये। न जाने कहाँ सैर-सपाटे करता फिरता है। ऐसा शौक़ चढ़ा है, उसे सैर-सपाटे का। आख़िर अपने बाप पर ही जाना था न और यह भुतने उसे दम लेने देते हैं क्या? वह बेचारा क्या करे, जिसके चारों तरफ़ शैतान बस्ते हों वह कब तक उनके असर से बचा रहेगा। अभी तो ख़ैर

मासूम है लेकिन आख़िर यही जवान होकर। तौबा! अल्लाह न करे उस पर इनका असर हो। तौबा!"

"पकड़यो! पकड़यो! अरे ठहर जा तो।" नीचे बाज़ार में दीने कुँजड़े ने शोर मचाया।

शोर सुनकर बुढ़िया का माथा ठनका और वह बाज़ार की तरफ़ भागी। "बापू-बापू—" नीचे दीना अपने बाप को आवाज़ दे रहा था। "अरे क्या हुआ है तुझे?" रहीम क़साई ने पूछा। "गाजर उठा कर ले गया है यहाँ से।" दीना ने जवाब दिया। "कहूँगा न मैं उसकी माँ से दूकान से चीज़ें उठाता रहता है।" "गाजर ले गया है तो क्या हुआ।" रहीम बोला। "पर यह अन्डा भी तो तोड़ गया है।" दीना चिल्लाया, "बापू आ कर मुझे मारेगा।"

"ऐ है कौन ले गया है इसकी गाजर?" खिड़की में से उसने सर निकाल कर पूछा। दीने ने उसे देखा तो लगा चिल्लाने। "यह देख ले माई तेरे लड़के ने अन्डा तोड़ दिया है। यह, देखा यह!"

"ऐ है!" वह चिल्लाई, "क्या कह रहा है तू। मेरा बेटा क्यों तोड़ने लगा किसी का अन्डा। किसी पर इल्ज़ाम लगाते हुए शर्म नहीं आती तुझे?"

"इल्ज़ाम कौन लगाता है। मैं कहता हूँ अभी-अभी वह यहाँ से गाजर उठा कर भागा है। चाहे पूछ लो रहीम से। क्यों चाचा?"

"बड़े आये हो तुम और तुम्हारा चाचा। ऐ है इन बाज़ार वालों पर ख़ुदा की मार। एक न एक झगड़ा छेड़े रहते हैं। फ़साद किए बग़ैर जी नहीं लगता इनका, तौबा! जाजी तो कब से बाहर गया हुआ है और तुम कहते हो अन्डा तोड़ गया है। दोपहर के वक़्त भी दिखता नहीं तुम्हें। कोई और होगा वह, जिसने तुम्हारा अन्डा तोड़ा है। बिला वजह मेरे बेटे का नाम लगा दिया। तुम्हें तो उस से बैर है बैर! समझते होगे लावारिस लड़का है, जो चाहें कह दें। पर मैं बताये देती हूँ, मेरे बेटे की तरफ़ निगाह उठा कर देखा तो आँखें नोच लूँगी, हाँ!"

"क्यों क्या हुआ?" दीने का बाप भागा दूकान पर पहुँचा। बुढ़िया के लड़के के अन्डा तोड़ दिया है। यह रहा। झपट कर गाजर उठा कर भागा तो अन्डा टूट गया।" दीना बिसोरने लगा।

"ऐ है फिर वही बात, कीड़े पड़ें तेरी इस ज़बान में।" बुढ़िया चिल्लाई।

"चलो क्या हुआ फिर?" दीने के बाप ने सर खुजला कर कहा, "तो ध्यान रक्खा कर न अपनी चीज़ों का। अच्छा माई जाने दे अब।" दीने के बाप ने हाथ जोड़े। "यह और सुनो! जाने दे, जैसे मैंने बात छेड़ रक्खी हो। अपने लड़के से पूछ जो बिला वजह लोगों पर इल्ज़ाम लगाता फिरता है।" "अच्छा माई माफ़ कर अब। दीना तो बच्चा है।" उसके

बाप ने कहा। "ऐ है बच्चा !" बुढ़िया चिल्लाई, "यह बच्चा है !! मेरे बेटे पर इतना बड़ा इल्ज़ाम लगा दिया इस बच्चे ने। चाहे अन्डा अपने हाथ ही से छूट गया हो और तुम कहते हो अभी बच्चा है।" दीना बोलने लगा तो उसके बाप ने जन से उसके मुँह पर चपत रसीद की। "बैठ अब यहीं। खबरदार जो मुँह से बात की।" "अरे भाई !" रहीम ने जालीदार दरवाज़े से मुँह निकाल कर कहा। यह रिकाट वाला बाजा क्यों छेड़ दिया तूने।" "अब तो तू जलती को हवा दे रहा है।" दीने के बाप ने हँस कर कहा। "हवा देने की ज़रूरत नहीं यहाँ। चाबी भरी हुई है।" वह हँसा।

उनकी बातें सुन कर बुढ़िया ने सर पीट लिया और लगी तमाम बाज़ार वालों को कोसने। बाज़ार वाले उसके कोसने सुनकर एक-दो बार दबी आवाज़ से हँसे। फिर यूँ खामोश हो गये जैसे कोई बात ही न हो, जैसे वह बुढ़िया न जाने किसको सलवातें सुना रही हो।

चिल्ला-चिल्ला कर बुढ़िया की घिग्घी बन्ध गई। लेकिन वह वहीं खड़ी रही और रुके बग़ैर बड़बड़ाती रही। जब उसने महसूस किया कि कोई उसकी बात नहीं सुन रहा है तो पल्ले की गिरह से एक घिसी हुई एकन्नी खोली और खिड़की में से उसे फेंक कर बोली, "यह ले अपने अन्डे की क़ीमत।" जन से एकन्नी दीने के सर पर आ लगी, "क्या समझा है तुमने ?" वह चिल्लाई।

ठीक उसी वक़्त बाज़ार के परले सिरे पर बड़े ज़ोर से मोटर का हार्न सुनाई दिया और फिर पहिये ब्रेक तले चीखें। "गों–ओं ...." अरे दौड़ो। पकड़ो-पकड़ो। ओह !" फिर एक लम्बी चीख सुनाई दी, "हाय मेरे अल्लाह !" बुढ़िया ने दोनों हाथों से सीना थाम लिया। उसका माथा पसीने से शराबोर हो गया और दिल डूब गया।

आसमान पर मटियाले बादल छाये हुये थे। हल्की-हल्की फुवार पड़ रही थी। लोग खिड़कियाँ बन्द करके कमरों में बैठे थे। बाज़ार में दूकान-दारों ने भी दूकानों के पट बन्द कर रक्खे थे। जाजी की माँ, घर पर छाई हुई खामोशी से घबरा कर बावर्ची-खाने (रसोई घर) में जा बैठी। चूल्हे में आग टिमटिमा रही थी लेकिन जैसे उसमें गर्म करने की ताक़त नाम को भी न थी। कमरे में चारों तरफ़ धुवाँ भरा हुआ था। आग को देख कर बुढ़िया ने और भी ठंडा मह-सूस किया और फिर से बड़े कमरे में आ गई। इस अकेलापन और खामोशी में उसका दम घुट रहा था। जी चाहता था कि किसी से कोई बात करे लेकिन घर में कोई ऐसा न था, जिससे बात की जा सके। अलमारी में पड़े टूटे हुये तोते को देख कर उसके दिल पर एक ठेस लगी। अनजाने में पल्लू से वह आँसू पोंछा, जो कब से

सूख चुका था। उसने तोते के सर पर प्यार दिया और चुपचाप उसकी तरफ़ देखने लगी। पहले वह इस टूटे हुये तोते से बातें किया करती थी लेकिन अब उसे देख कर कोई बात न सूझती थी। शायद अब उसे खिलौने से बातें करने की ज़रूरत न रही थी। वह बेचारा तो आप चोंच झुकाये चुपचाप बैठा था, जैसे उड़ने की ताक़त न रही हो। उससे दिल की बातें कहने से क्या फ़ायदा! वह तो आप दुखी मालूम होता था।

यकायक बुढ़िया ने महसूस किया कि कमरे में उसका दम घुट जायेगा उसने लपक कर खिड़की खोल दी और उसमें बैठ कर बाहर देखने लगी। तमाम घर जैसे सुनसान पड़े थे। आसमान पर बेपनाह उदासी छाई हुई थी। दूर कोई चक्की हौंक रही थी। बुढ़िया इस छाई हुई उदासी से घबरा कर उठी और प्याले में दाल डाल कर उसमें से कंकर चुनने में लग गई। शायद इसलिए कि उसका ध्यान किसी काम में बट जाये लेकिन उसकी आँखों तले दाल के दाने धुँधलाये जा रहे थे। उसकी निगाह में वह फैल रहे थे, फैल रहे थे और प्याले की दीवारें नाच रही थीं। उकता कर उसने प्याला परे रख दिया और सलाख़ों से सर टेक कर चुपचाप बैठ गई।

"आ! आ! जा आ!" नीचे मैदान से बेदी की आवाज़ सुन कर वह चौंकी। एक लम्बी आह भरी। फिर मुस्कुराने लगीं, "तौबा!" वह बड़बड़ाई। "चाहे बारिश हो या तूफ़ान इन बच्चों की बला से। इन्हें अपने खेल से मतलब।" बुढ़िया ने फिर दाल का प्याला अपने सामने रख लिया। दाल के धुँधले दाने साफ़ दिखाई पड़ने लगे। "बच्चे भी क्या चीज़ हैं।" वह बड़बड़ाने लगी। फिर खिड़की से नीचे की तरफ़ झाँकने लगी। मैदान में कोई न था, "न जाने कहाँ छिपे बैठे हैं।" वह बोली। सामने मेंह की बूँदियाँ बरस रही थीं। मटियाले बादल गुलाबी दिखाई दे रहे थे। परे धनुक का एक धुँधला-सा टुकड़ा धीरे-धीरे उभरता जा रहा था। कुछ देर तक वह ऐसे ही बैठी रही, जैसे किसी उम्मीद की ख़ुशी के इन्तिज़ार में बैठी हो। कुछ देर तक तो वह खिड़की की तरफ़ कान लगाये सुनती रही लेकिन मैदान से कोई आवाज़ न आने पर फिर से उसके अन्दाज़ में वही पुरानी हसरत और उदासी पलट आई और वह सलाखों से सर टेक कर चुपचाप बैठ गई।

सीढ़ियों में धड़ाम की आवाज़ सुन कर वह चौंकी, "या अल्लाह तौबा, न जाने—" वह सीढ़ियों की तरफ़ भागी। चौथी सीढ़ी पर भप्पू गिरी पड़ी थी। "या मेरे अल्लाह!" बुढ़िया उसे देख कर चिल्लाई, "उठ मेरी बच्ची!" वह उसे उठाते हुये बोली, "हाय रे यह सीढ़ियाँ। न जाने किस मनहूस ने बनाया था इन्हें। जो आता है गिर पड़ता है।

जो ऊपर चढ़ने लगता है, नीचे फिसल जाता है। पाँव धरने के लिये जगह भी हो यहाँ। अल्लाह मारी बाल की दीवार खड़ी करदी है। उठ मेरी बच्ची। आ मैं कपड़े झाड़ दूँ। क्यों मैं वारी, कहाँ लगी है चोट! हाय मैं मर जाऊँ। सारा घुटना लहू-लहान हो रहा है। आ मैं हल्दी की पट्टी बाँध दूँ। आ भी न!" लेकिन झप्पू पीछे हट गई। दो एक मिनट के लिये उसने बुढ़िया की तरफ़ देखा फिर सीढ़ियाँ उतर कर अपने घर की तरफ़ चल पड़ी। बुढ़िया उसे जाते देख कर हँस पड़ी, "डरती है तू पट्टी बँधवाने से। अच्छा तो न सही न सही। जैसी तेरी मर्ज़ी। मैं तो बेटी तेरे ही भले की कहती थी! अच्छा जा। जाकर आग के सामने बैठियो। चोट को ठंडा न लग जाये।" यह कह कर वह सीढ़ियाँ चढ़ने लगी, "क्यों न गिरें बच्चे इन सीढ़ियों से। देखो तो क़ुतुब मीनार की तरह घूमती हैं। तौबा ऐसे घर से तो किसी झोपड़े में रह लेना कहीं अच्छा है।" कमरे में उसकी निगाह टूटे हुए मिट्टी के तोते पर पड़ी। हाँ उस दिन जब जाजी तोते समेत सीढ़ियों में गिर पड़ा था और उठते ही तोते के टूट जाने पर रोता रहा था, अपनी चोट का खयाल न आया था, उसे बुढ़िया की आँखों के सूखे आँसू फिर से बहने लगे और वह मुँह पर दोपट्टा लेकर खिड़की में बैठ गई। न जाने वह कब तक वहाँ बैठी रही। बादल छट गये आसमान पर पड़ी हुई रंगीन धनुक निगाहों से ओझल हो गई। सूरज निकलने पर सारा मैदान धूप से जगमगा उठा लेकिन बुढ़िया को जैसे ख़बर ही न हुई। वह चुप-चाप ज्यों की त्यों बैठी रही।

बाज़ार से तरकारी बेचने वाले दीने की चीख सुन कर वह जैसे जाग उठी। "हाय!" उसने अपना सीना थाम कर कहा, "अल्लाह खैर करे और फिर बाज़ार की खिड़की की तरफ़ गई। "फिर चुरायेगा तू?" दीने का बाप हाथ में जूता उठाये दीने के सर पर खड़ा था। दीना दोनों हाथ पर सर रक्खे रो रहा था।

"जाने भी दे चौधरी।" रहीम क़साई चिल्लाया, "जाने दूँ?" चौधरी बोला, "आज चवन्नी है कल न जाने क्या चुरायेगा।" यह कह कर चौधरी ने पटाख से एक जूता चलाया और दीना फिर चीखने लगा। "ऐ है!" बुढ़िया चिल्लाई, "इतने से बच्चे पर हाथ उठाते शर्म नहीं आती। ऐ लोगो तुम्हारे सामने लड़का पिट रहा है और तुम मज़े से देख रहे हो, जैसे तमाशा हो। तौबा क्या ज़माना आया है। सगे बाप का ख़ून सफ़ेद हो गया है!"

"मैं तो इसका लहू पी लूँगा!" दीने का बाप ऊपर बुढ़िया की तरफ़ देख कर गुर्राया। "यह कहते हुये शर्म नहीं आती तुम्हें।" वह चिल्लाई। "तुम्हें नहीं मालूम बीबी।" वह बोला, "इस लड़के ने चवन्नी

चुराई है।" "चवन्नी चुराई है तो क्या ख़ून कर दोगे इसका। चवन्नी की खातिर लड़के को मार-मार कर अधमुआ कर दिया है तुमने।" "लेकिन चोरी—" चौधरी ने कुछ कहने की कोशिश की। "ऐ है बच्चा है अभी। प्यार से समझाओ तो आप ही समझ जायेगा!" "उँह बच्चा!" वह बोला। "मुँह पर दाढ़ी आने को है और अभी बच्चा?" "बच्चा नहीं तो और क्या है।" वह बोली, "उसकी माँ से पूछो जाकर?" "हूँह!" वह हँसा। "माँ ने ही तो सर चढ़ाया है इसे। बुढ़िया ने क़मीज के पल्ले से चवन्नी निकाल कर चौधरी की तरफ़ फेंकते हुये कहा, "यह ले अपनी चवन्नी और खबरदार जो लड़के पर हाथ उठाया। तौबा क्या ज़माना आया है। हाथ उठाते वक़्त ख़ुदा का खौफ़ नहीं आता इन्हें। नन्ही-सी जान को यूँ पीट रहा है, जैसे लड़का न हो धान का मुट्ठा हुआ।" "लेकिन अम्माँ, उसने चोरी जो की है?" रहीम क़साई बोला। "चोरी की है तो उसे समझा। यूँ उठ कर पीटना शुरू कर देना। आख़िर वह तेरा बेटा है। तौबा-तौबा!"

कुछ देर तक तो बाज़ार वाले उसकी हाँ में हाँ मिलाते रहे लेकिन जल्द ही वह अपने काम में लग गये लेकिन वह खिड़की में खड़ी बोलती रही। बोलती रही। यहाँ तक कि शाम हो गई। अगले दिन जब उसने आसमान की तरफ़ देखा तो आप ही आप बोली, "शुक्र है आज आसमान साफ़ हुआ है। दो दिन से अल्लाह मारी बारिश ने परीशान कर रक्खा था। बच्चों के खेलने के लिये जगह न मिलती थी। आज तो मैदान में खेलेंगे।" वह इत्मीनान से खिड़की में बैठ गई लेकिन बच्चे मैदान में न आये। कुछ देर तक वह इन्तिज़ार करती रही! फिर अपने-आपको तसल्ली देने के लिये कहने लगी, "आजायेंगे अभी! अभी तो सारा दिन पड़ा है।" लेकिन इसके बावजूद बच्चों की ग़ैर-हाज़िरी की वजह से वह एक तनहाई-सी महसूस कर रही थी, "न जाने क्या हुआ है उन्हें?" वह मुस्कुराने लगी, "छिप-छिप कर कोनों में खेलते हैं। यह नहीं कि बाहर धूप में आकर खेलें पर वह भी क्या करें। कोई खेलने भी दे उन्हें। माँ को पता चले तो झट झिड़कियाँ देना शुरू कर देती हैं और बाप, तौबा! बाप तो अपने बच्चों के दुश्मन हो रहे हैं आजकल।"

दरवाज़े में आहट सुन कर वह उठ बैठी, "कौन है? ओह तुम हो।" उसने नज्जू और बेदी को देख कर कहा, "आजाओ! ऐ है तुम्हारे साथ खेलने वाला नहीं तो क्या यहाँ आओगे भी नहीं तुम। बुढ़िया ने आँचल से आँसू पोछ कर कहा, "न जाने क्यों नहीं आते तुम।" कोठे पर खेलने के लिये ऐसी अच्छी जगह बनी है। ऐसी अच्छी जगह है, घर-घर खेलने के लिये। है न बेदी?" उसने बेदी के

दोनों हाथ प्यार से पकड़ कर उन्हें झुलाते हुये पूछा, "तुम तो जानती हो न जब तुम घरवाली बना करती थीं और, और, वह..." उसका गला बीती बातों को याद करके रुँध गया, "इतनी जल्दी भूल गई। ऐ है क्या ज़माना आया है। साथी-साथी को भूल जाता है इन दिनों।"

"आओ बेदी!" नज्जू ने इशारा किया और वह दोनों कोठे पर चढ़ गये, "क्या ज़माना आया है?" बुढ़िया अपनी ही धुन में खड़ी बड़-बड़ाती रही, "पर इनका क्या क़ुसूर। यह उम्र ही ऐसी है। इनके लिए तो बस आज ही आज है। कल तो है ही नहीं। अच्छा जीते रहें। हाय!" उसने मुड़ कर देखा और दोनों को ग़ायब पाकर मुस्कुरा दी। चुपके से यूँ दबे पाँव खिसक जाते हैं कि पता ही नहीं लगता। वह भी यूँ ही निकल जाया करता था और मैं बैठी की बैठी रह जाती थी। वह हँसी।

बुढ़िया दबे पाँव कोठे पर चढ़ गई। कोठे पर परले कोने में नज्जू चटाई के टटे हुए टुकड़े पर बैठा था। उसके पास दोनों भप्पू और बेदी खड़ी थी। "क्यों नज्जू?" बेदी पूछ रही थी। "भप्पू तो मेहमान है न!" "न भई!" भप्पू चिल्लाई, "हम नहीं खेलते।" बुढ़िया यह देख कर सीढ़ियों में खड़ी हो गई और चोरी-चोरी उन्हें देखने लगी। वह डरती थी कि बच्चे उन्हें देख न पायें वरना वह भाग जायेंगे। न जाने वह इस ख़याल से डरती क्यों थी। उसे ऐसा महसूस हो रहा था कि जैसे उनके चले जाने पर आसमान पर फिर से मटियाले बादल छा जायेंगे और घर पर गहरी ख़ामोशी फैल जायेगी। वह डरती थी कि बच्चे उसे देख न लें। इस लिए वह चुप-चाप वहीं खड़ी रही। सर दीवार पर टेक दिया और ग़ौर से बच्चों का खेल देखने लगी। लेकिन उसकी निगाहें दूर न जाने कहाँ देख रही थीं।

खेलने के बाद जब वह सब उसके पास से गुज़रने लगे तो वह चौंकी। क़मीज़ से आँखें पोंछ कर भर्राई हुई आवाज़ में बोली, "बस और नहीं खेलोगे क्या? उँह!" नज्जू ने गाल में ज़बान दे कर कहा और वह तीनों सीढ़ियाँ उतरने लगे। उन्हें जाते देख कर बुढ़िया ने एक कसक महसूस की। उसका जी चाहता था कि किसी बहाने उन्हें वापस बुला ले लेकिन वह क्या कर सकती थी। उसने दीवार से सहारा लगा लिया। फिर अचानक उसे कुछ याद आया। "बेदी! नज्जू!" वह चिल्लाई, "ठहरना ज़रा। ज़रा ठहरना!" बुढ़िया तेज़ी से सीढ़ियाँ उतरने लगी, "न जाने क्या हो गया है, मेरी याद को? दो दिन से मैंने तुम्हारे लिए लड्डू सँभाल रक्खे हैं।" "लड्डू?!" बेदी ने मुँह का पानी निगलते हुए दोहराया। "हाँ लड्डू!" वह बोली, "ब्याह वाले घर से आये थे। मैंने

तुम्हारे लिए रख छोड़े। यह लो!" बुढ़िया ने मिट्टी की हंड़िया से चार लड्डू निकाले, "यह लो नज्जू! यह तुम लो भप्पू और बेदी यह तुम और यह ..।" उसने चौथे लड्डू की तरफ़ देख कर लम्बी आह भरी। फिर आँख पोंछ कर खिड़की की तरफ़ चली गई और सर सलाखों पर रख कर ग़ौर से इस चौथे लड्डू की तरफ़ भरी हुई आँखों से देखने लगी। नीचे मैदान में गामा खड़ा था, जो कई दिन के बाद गाँव से वापस आया था। गामा ने भप्पू को देख कर दाँत निकाले। फिर मुँह बना कर पूछने लगा, "वह यही है दाँतों वाली।" "हाँ!" नज्जू ने दाँत दिखाते हुए कहा, "वह?" "नहीं-नहीं!" भप्पू चिल्लाई, "अब वह-वह नहीं।" "वह नहीं!" गामा ने हैरानी से भप्पू की तरफ़ देखा। "ओह—लड्डू!" गामा ने उनके हाथ में लड्डू देख कर हैरानी से पूछा। "चुराये है?" "ऊँहँ!" बेदी ने सर हिलाया। "तो?" गामा पूछने लगा। नज्जू ने दाँत निकाल कर इशारा किया। "उसने दिये हैं।" दाँतों वाली ने?" उसने दोहराया। "हाँ! पर—" बेदी ने कुछ कहने के लिए मुँह खोला, "झूट!" गामा ने शोर मचाया। "वह क्या देगी। मुझे दो!" "चुप!" बेदी ने होंटों पर उँगली रख कर सलाख़दार खिड़की की तरफ़ इशारा किया। "माँ!"

खिड़की में सलाखों पर सर टिकाएँ बुढ़िया एक लड्डू......हाथ से पकड़े हुए, दूर आसमान की तरफ़ खोई हुई निगाहों से देख रही थी। उसे इस सलाख़दार खिड़की में बैठे देख कर ऐसे महसूस होता था, जैसे कोई पंछी पिंजरे में दम तोड़ रहा हो।

मीर-तक़ी 'मीर' उर्दू-ग़ज़ल के बहुत बड़े शाएर तो हैं ही एक बड़े आलोचक भी हैं। शाएरी की तरह उनकी आलोचना भी दो-टूक होती है। एक बार किसी ने उनसे पूँछा, "हुज़ूर! आपके ख़याल में इस वक़्त उर्दू में कितने शाएर हैं?"

"शाएर!" 'मीर' तड़प कर बोले, "शाएर कौन हैं? एक मैं हूँ और दूसरे सौदा!"

"और ख़ाजा मीर 'दर्द'?

"आधा शाएर उनको भी मान लीजिए!"

"हुज़ूर! मीर 'सोज़' नव्वाब आसिफ़ुद्दौला के उस्ताद हैं, उनके बारे क्या इर्शाद है?"

"भई! आपकी ख़ातिर से एक चौथाई शाएर उन्हें भी कहे देता हूँ और बस! अब और शाएर नहीं हैं!"
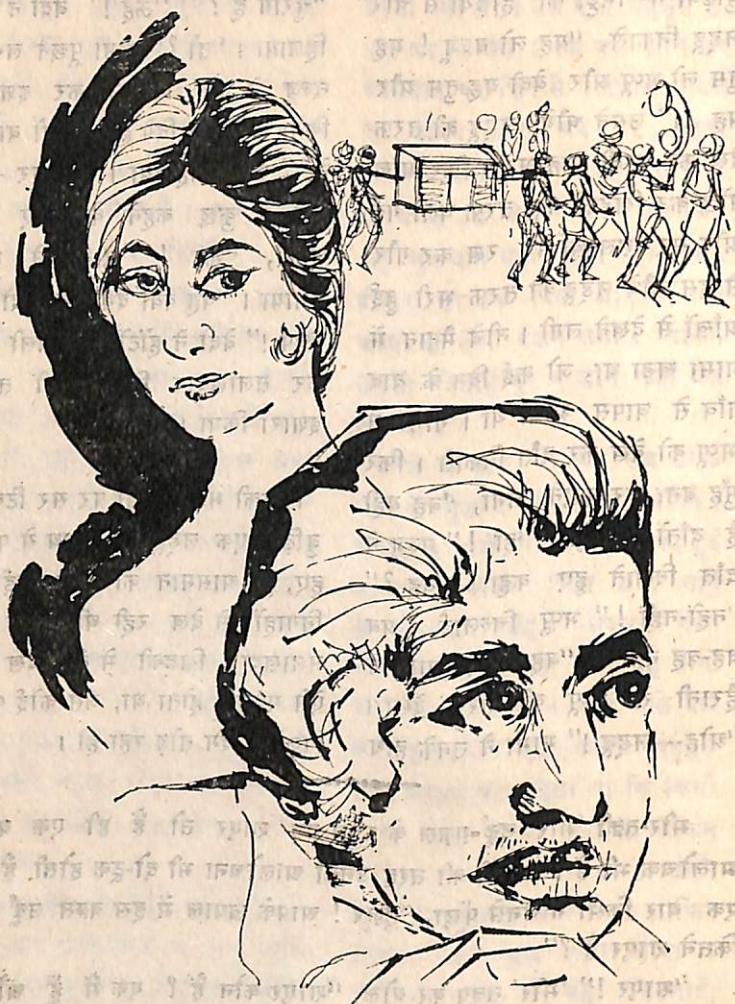
पड़ोस में वकील साहब की लड़की की शादी थी। बड़ी धूम-धाम के साथ बरात आई और तीन दिन तक मुहल्ले में खूब चहल-पहल रही। बरातियों की चीख-पुकार, क़ीमती लिबासों की सज-धज, पुर-तकल्लुफ़ दावतें, रोशनियों की जगमगाहट, संगीत की दिलकश तानें। मुहल्ले की सोती हुई दुनिया जाग उठी और माहौल (वातावरण) में ज़िन्दगी लहरें लेने लगी।

तीसरे दिन रात को दुल्हन की रुख्सती (बिदाई) का वक़्त आया। मैं अपने मकान की ऊपरी मंजिल पर कमरे के सामने छोटे से सहेन (आँगन) में एक कुर्सी डाले बैठा

नामुरादी और मायूसी का यह एहसास मेरी ज़िन्दगी में अपनी तरह का पहला एहसास था, जो बहुत दिनों तक एक सर्द और तारीक कुहरे की तरह मुझे घेरे रहा। फिर चूँकि वक़्त का मरहम गहरे से गहरे ज़ख़्म को भी भर देता है, इस एहसास की ज़्यादती में भी धीरे-धीरे कमी होने लगी। यहाँ तक कि यह सारा वाक़या एक भूली हुई कड़वी और मीठी याद से ज़्यादा न रहा।

अख़्तर अन्सारी

था। दाहनी तरफ़ दो-तीन मकान छोड़ कर वकील साहब की कोठी थी। कोठी का लम्बा-चौड़ा हाता, जिसमें बरातियों और दूसरे मेहमानों का एक बेपनाह हुजूम (भीड़) था और कई रंगों के क़ुमक़ुमे रौशन थे, मेरी नज़रों से छिपा हुआ था। इन्सानी आवाज़ का शोर और बिजली की रौशनियाँ दोनों चीज़ें हाते की ज़मीन से उठ कर हवा में बलन्द होने की कोशिश कर रही थीं। आवाज़ों के इस शोर को मेरे कान सुन रहे थे और इन रौशनियों को आँखें देख रही थी। इस लिए मेरे दिल में ब्याह की रौनक़ और बरात के शोरो-ग़ुल का एक ज़िन्दा और सही एहसास मौजूद था।

यकायक ज़ोर से बाजा बजना शुरू हुआ। साथ-साथ लोगों की चीख़-पुकार सुनाई दी। एक तूफ़ान-सा उठ खड़ा हुआ। थोड़ी देर यह आलम रहा फिर मैंने रौशनी की लहरों को हवा में हरकत करते हुए देखा और मजमा अपने शोर के साथ आगे बढ़ता हुआ मालूम हुआ।

"दुल्हन रूख़सत हो रही है!" यकायक यह खयाल मेरे दिमाग़ में आया और यकायक मेरा दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा।

मैं एक बेचैनी के आलम में कुर्सी से उठ कर खुली छत पर टहलने लगा। मेरा सारा ध्यान बरातियों की चीख़-पुकार में डूब गया।

बरात आगे बढ़ रही थी और गली में से होती हुई सड़क की तरफ़ जा रही थी। मेरा दिल तकलीफ़ से कराह रहा था, जैसे मेरी उम्मीदों और अरमानों का जनाज़ा निकल रहा है। बाजे की आवाज़ दूर से दूर तक होती गई। शोरो-ग़ुल धीरे-धीरे कम होता गया, यहाँ तक कि बिल्कुल ख़त्म हो गया। मैं थक कर कुर्सी पर गिर पड़ा। रात का भयानक अँधेरा और सन्नाटा मेरी रूह पर छा गया। ऐसा मालूम हुआ कि मैं मायूसी (निराशा) और नाउम्मेदी की अथाह गहराइयों में डूबता चला जा रहा हूँ। वह सीना, जिस में कुछ देर पहले दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था, अब बिल्कुल खाली और वीरान था, जैसे ज़िन्दगी की कोई जरूरी चीज़ मुझ से छीन ली गई है, या ख़ुद ज़िन्दगी को मेरे जिस्म से अलग कर दिया गया है।

"नामुराद तेरी यह हालत क्यों है? यह तुझे एकाएकी क्या हो गया?" मैंने अपने दिल से सवाल किया, "एक दुल्हन अपने माँ-बाप के घर से रुख़सत होती है और अपने शौहर के घर सिधारती है तो तुझे क्या? तू क्यों तड़पता है?"

मैंने वकील साहब की लड़की को अक्सर देखा था। वह अपने ब्याह से कुछ महीने पहले तक एक स्कूल में पढ़ती थी और अपने बाप की बग्घी में आया-जाया करती थी। बग्घी में वह बहुत लजाई हुई और शर्माई हुई बैठती। एक खुली हुई किताब उसके हाथ में होती और नज़रें सख़्ती के साथ उसपर गड़ी होती। वह कनखियों से भी इधर-उधर देखने की कोशिश न करती। सड़क पर चलने वाले मानो उसके लिए आदमी या जाँदार ही न थे। मैंने उसको कभी रंगीन कपड़े पहने हुए नहीं देखा। वह हमेशा एक सफ़ेद साड़ी बाँधे होते। उसका चेहरा चाँद की तरह हसीन था और चाँदनी की तरह सफ़ेद और रौशन। बग्घी में बैठी हुई शर्मो-हया और पाकीज़गी की देवी मालूम होती थी। उसको देख कर मैं यह सोचने लगता कि इस लड़की में सीता के सादा और मासूम हुस्न ने दोबारा जन्म लिया है। बस यही खयाल था, जो उसे देख कर मेरे दिल में पैदा

होता था। इसके अलावा कोई दूसरा खयाल या जज़्बा मैंने उसके बारे में कभी अपने अन्दर महसूस नहीं किया।

मुझे उस से मुहब्बत नहीं थी। फिर उसके ब्याहे जाने पर मुझे क्यों रंज हुआ? उसकी रूखसती के वक़्त मेरा दिल क्यों ज़ोर से फड़कने लगा? इस सवाल का जवाब ज़रा लम्बा होगा।

दस साल पहले--उस वक़्त जब मेरी उम्र तेरह और चौदह बरस के दरम्यान थी—मैं आज की तरह तनहा उदास, और वीरान न था, बल्कि माँ-बाप की मुहब्बत के साये में और बहुत से अज़ीज़ों के साथ खुशियों और आराम से भरी-पुरी ज़िन्दगी बसर कर रहा था। हमारा मकान पुरानी दिल्ली के एक ऐसे मुहल्ले में था, जहाँ ज़्यादातर पुराने तौर-तरीक़े और रंग-ढंग के लोग आबाद थे, वह लोग जिनको अब के नये पढ़े-लिखे लोगों ने हिक़ारत (तुच्छता) के साथ कारखानेदार कहना सीख लिया है, जो किसी ज़माने में अपनी दस्तकारी और घरेलू धन्धों की बदौलत इत्मीनान की, बल्कि अलल्ले-तलल्ले की ज़िन्दगी बसर करते थे मगर अब यूरोप की माली लूट (आर्थिक शोषण) की बदौलत ग़रीबी और मुहताजी के शिकार नज़र आते हैं। हमारे घर के बराबर एक पीर जी का घर था। यह मैं नहीं कह सकता कि लोग क्यों उन्हें पीर जी कहा करते थे, क्योंकि न तो वह कोई सफ़ेद दाढ़ी वाले बुज़ुर्ग थे और न उन्होंने कोई पीरी-मुरीदी का सिलसिला ही क़ायम कर रक्खा था और न वह तावीज़-गन्डे का रोज़गार ही करते थे। उनके यहाँ ज़रदोज़ी का काम होता था। और मैं समझा हूँ कि उनकी आमदनी अच्छी ख़ासी होगी, इसलिये कि आज दस साल गुज़र जाने के बाद भी मुझे अच्छी तरह याद है कि उनके घर में औरतें और लड़के-लड़कियाँ सब अच्छे कपड़े पहनते थे। त्योहारों पर ख़ूब जी खोल कर ख़र्च किया करते थे और खाने पर दोनों वक़्त गोश्त हुआ करता था, जिसमें दो-दो अंगुल तार (चिकनाई) खड़ा होता था। इसके अलावा मुझे यह भी याद है कि घर में पीर जी की बीवी और उनकी बेवा चची दोपल्ली और चौगोशिया टोपियों की सिलाई का काम भी करती थीं। और कभी-कभी वह लोग इस पर भी मजबूर होते थे कि हमारे यहाँ से कुछ रुपये क़र्ज़ लें।

पीर जी का घर हमारे घर से बिल्कुल मिला हुआ था। इस लिए दोनों घरानों में बड़ा मेल-जोल था। मेरी माँ और हम सब पीर जी की बीवी को हमसाई (पड़ोसिन) कहा करते थे। वह अक्सर दोपहर के वक़्त अपने कामों से फ़ुरसत पाकर हमारे यहाँ आ जाया करती। मेरी माँ भी जब चाहतीं आज़ादाना उनके यहाँ चली जातीं, क्योंकि पीर जी सुब्ह की

नमाज़ पढ़ कर जो घर से निकलते थे, तो कहीं रात को इशा (रात की नमाज़ का वक़्त) के वक़्त लौटते थे। मैं और मेरा छोटा भाई, हम दोनों भी अपना बहुत-सा वक़्त उनके यहाँ गुज़ारते थे। मेरे भाई को पतंग उड़ाने का बड़ा शौक़ था, और उसका यह शौक़ दीवानगी (पागलपन) की हद तक पहुँचा हुआ था। वह पीर जी के छोटे लड़के और मुहल्ले के कुछ खेलन्डरों के साथ सारे-सारे दिन इसी पतंगबाज़ी में लगा रहता। उसकी कूद-फाँद से हर वक़्त कोठे पर धमाके से हुआ करते और छतें हिला करतीं। कभी हमसाई नाराज़ भी हो जातीं और उनको कोसने लगतीं, "ऐ तुम पर खुदा की सँवार ! आग लग जाये इन पतंगों को, मुर्दे निचले ही नहीं बैठते। सारे मकान को ढाये देते हैं।" उनकी इस चीख़-पुकार से घन्टे दो घन्टे के लिए सुकून हो जाता। लेकिन उसके बाद फिर वही शोर-ग़ुल, वही ऊधम और वही चीखम दहाड़।

मेरा छोटा भाई तो खेल-कूद की खातिर वहाँ हर वक़्त घुसा रहता, और मैं ? मैं वहाँ किस लिए जाता था ? मुझे पतंग उड़ाने या बेकार कूद-फाँद करने से कोई दिलचस्पी नहीं थी। मैं एक खास मतलब और एक बेहतरीन चीज़ के लिए वहाँ जाता था। हमसाई की छोटी लड़की ज़ुबैदा मेरे लिए बैपनाह कशिश (खिचाव) अपने अन्दर रखती थी। मैं उसे देखने और देखते रहने में एक नाक़ाबिले-बयान लज़्ज़त महसूस करता था। उस वक़्त तक मैंने अपनी ज़िन्दगी में इतनी हसीन और दिलपसन्द चीज़ न देखी थी और आज भी दस साल गुज़र जाने के बाद मेरे ज़ेहन में उसका खयाल एक जन्नत की हूर (अपसरा) की हैसियत से है। जब मैं उसको याद करता हूँ और अपने खयाल में उसकी तस्वीर खींचता हूँ, तो मेरे सामने एक इन्सानी पैकर (जिस्म) के बजाय एक दिलकश मुजस्सिमा (मूर्ती) होता है, जो किसी बलन्दतर और पाकीज़ा-तर दुनिया से तअल्लुक़ रखता है। उन पिछले दस सालों में मैंने देहली से निकल कर हिन्दुस्तान के सैकड़ों मुक़ामात देखें हैं, और हिन्दुस्तान से बाहर भी बहुत से मुल्कों की सैर कर चुका हूँ। ईरान और मिस्र की कुँवा-रियाँ भी मैंने देखी हैं और यूरोप की हसीन और तरहदार लड़कियों का भी नज़ारा किया है मगर मुझे याद नहीं पड़ता कि ज़ुबैदा से बेहतर नमूनए-हुस्न कहीं भी मेरी नज़र से गुज़रा हो। मैं अपने इस बयान में झूट से काम नहीं ले रहा हूँ मगर मुमकिन है ज़ुबैदा के हुस्न के बारे में मेरा यह दावा एक धोका ही हो। हो सकता है कि चूँकि वह मेरे ज़ेहन पर हुस्नो-जमाल (खूबसूरती) का पहला नक़्श था, इस लिए बहुत गहरा और काफ़ी दिनों तक क़ायम रहने वाला साबित हुआ। इस हद तक कि किसी दूसरे नक़्श के लिये जगह ही न रही। कुछ भी हो, मेरा बहरहाल यह खयाल

है कि ज़ुबैदा से ज़्यादा हसीन औरत मैंने नहीं देखी और उस वक़्त यानी दस साल पहले तो यक़ीनन वह मेरे लिए दुनिया की हसीन तरीन लड़की थी। वह उसका खिंचा हुआ क़द, वह उसका एकहरा बल खाता हुआ और बेद की तरह थरथराता हुआ जिस्म, वह दिलकश चाल, वह जादूभरी आँखें, जिनमें शोख़ी और हया हर वक़्त आँख मचोली-सी खेलती थी, वह स्याह चमकते हुए बाल और लहराती हुई चोटी, वह गुलाब की पत्तियों जैसे रसीले होंट, वह भरी-भरी गोरी कलाइयाँ, जिसमें काली-काली चूड़ियाँ, मानों नागनें थीं कि संदल की शाख़ के गिर्द लिपटी रहती थीं! वह लोचदार सुरीली आवाज़, जिस पर किसी आसमनी नग़मे (संगीत) का धोका होता था, वह निखरा हुआ रंग, जो न चाँदी की तरह सफ़ेद था, न गुलाब की तरह सुर्ख़, बल्कि क़ौस-क़ज़ह (इन्द्रधनुष) की तरह रंगीन और ख़ूबसूरत था। ग़रज़ ज़ुबैदा उठती हुई जवानी और मासूमियत की एक क़यामत-खेज़ (क़यामत उठाने वाली) हसीना थी। मैं बिल्कुल अनजाने तौर पर उसकी तरफ़ खिंचता था और उसको देख कर एक अथाह दिली-मसर्रत (ख़ुशी) महसूस करता था। मुझे शायद उस से मुहब्बत थी!

शायद का लफ़्ज़ मैंने इसलिये इस्तेमाल किया कि एक तेरह-चौदह बरस के नौउम्र लड़के का एक बाईस-तेईस साल की लड़की से मुहब्बत करना कुछ अजीब-सी बात है। ज़ुबैदा की उम्र यक़ीनन बाईस-तेईस बरस से कम न थी। उसकी जवानी का सूरज अपनी पूरी चमक-दमक दिखा रहा था। आम तौर पर लड़कियों की शादी इस उम्र तक पहुँचने से बहुत पहले हो जाया करती है और ज़ुबैदा भी शायद कभी की ब्याही जा चुकी होती मगर एक अफ़सोसनाक मजबूरी की वजह से उसकी शादी रुकी हुई थी। उसकी बड़ी बहन रशीदा ख़ूबसूरत भी थी और सुघड़ भी, लेकिन बचपन में उस पर फ़ालिज का असर हो चुका था, जिसकी वजह से अब उसका एक हाथ बेकार था और वह चलने में कुछ लंगड़ाती भी थी। इस जिस्मानी ऐब का नतीजा था कि अभी तक उसकी शादी न हो सकी थी। हालाँकि अब उसकी उम्र पचीस साल के लगभग थी। फिर ज़ाहिर है जब कि बड़ी बहन की शादी न हो जाये छोटी बहन की क्योंकर हो सकती है। छोटी बहन को ब्याह देना, और बड़ी बहन को बिठाये रखना, गोया इस बात की दलील या एलान करना है कि बड़ी बहन नाक़िस है और इस क़ाबिल नहीं है कि कोई उससे शादी करे और कौन माँ-बाप ऐसे होंगे, जो ऐसा करना गवारा करेंगे। हमसाई के घर में भी यही ट्रैजिडी हो रही थी। हज़ार कोशिशों के बावजूद रशीदा के लिए कोई मुनासिब बर न मिलता था, और इसका लाज़िमी नतीजा यह था कि ज़ुबैदा

भी अब तक कुंवारी थी। दो जवा-नियाँ थीं कि पामाल हो रही थीं!

मुझे ज़ुबैदा से एक अनजाना-सा तअल्लुक़ महसूस होता था। मैंने इसकी असलियत पर कभी ग़ौर नहीं किया। मैंने कभी यह सोचने की कोशिश नहीं कि इस ख़ामोश मुहब्बत या ख़ामोश पूजा से आख़िर मेरा मतलब क्या है। अगर मैं ऐसा करता भी तो शायद किसी फ़ैसलाकुन नतीजे पर न पहुँचता, क्योंकि मेरा ख़याल है कि यह जज़्बा जितना तेज़ था, उतना ही बेग़रज़ाना (निःस्वार्थ) भी था और सचमुच इसमें कोई मक़्सद नहीं पोशीदा था। अलबत्ता अगर मैं इस मुहब्बत के अंजाम पर ग़ौर करता, तो बहुत जल्द मुझे मालूम हो जाता कि यह सिलसिला ज़्यादा मुद्दत तक क़ायम रहने वाला नहीं और जल्द ही वह वक़्त आयेगा जब ज़ुबैदा को देखना तो दरकनार उसको ख़याल में लाना भी गुनाह होगा। मगर मुहब्बत आगा-पीछा नहीं देखती या सोचती, और मैंने कभी अंजाम पर नज़र नहीं डाली। मैं मुस्तक़बिल (भविष्य) से बेख़बर, हाल में मस्त था। मुझे इत्मी-नान था कि ज़ुबैदा मेरी आँखों के सामने है, मैं उसे देख सकता हूँ और देखता हूँ। यही मेरी जन्नत थी और इसी में मेरे लिये राहत थी।

ज़ुबैदा को देखने और देखते रहने में मेरे लिये कोई रुकावट न थी। हम-साई के घर में मुझसे पर्दा नहीं किया जाता था, और मैं जब चाहता बेरोक-टोक उनके यहाँ चला जाता था। फिर एक बात यह भी थी कि मेरी मुहब्बत किसी पर ज़ाहिर न हो सकती थी। मैं मजनूँ या फ़र्हाद की तरह का कोई चीख़ने-चिल्लाने वाला आशिक़ तो था नहीं कि सीना कूटता और सर पर ख़ाक डालता इधर-उधर फिरता। मेरा इश्क़—अगर उसको इश्क़ कहा जा सकता है—एक ख़ामोश इश्क़ था, और यह किसके दिमाग़ में बात आ सकती थी कि एक तेरह्-चौदह साल का दुबला-पतला-सा लड़का, ज़ुबैदा जैसी भरपूर जवानी के इश्क़ में गिरफ़्तार है। ख़ुद ज़ुबैदा को इसका गुमान तक न था। वह मेरी इस मुहब्बत और दिलचस्पी से बिल्कुल बेख़बर थी। मैं उससे बातें भी करता था, मगर मेरी बातों से या चेहरे की कैफ़ियत से कभी मेरा राज़ ज़ाहिर न होता था। अलबत्ता मैं कभ-कभी यह सोचता था कि अगर किसी दिन मैं उससे कह दूँ, "मुझे तुमसे मुहब्बत है ज़ुबैदा!" तो वह क्या कहेगी? वह शायद खिलखिला कर हँस पड़े या मेरी हालत पर मुस्कुराये और एक हल्का-सा चपत मेरे गाल पर रसीद करे।

ज़माना यूँ ही गुज़रता रहा। बढ़ती हुई उम्र के साथ मेरे जज़्बात पुख़्ता-तर और बेदार-तर (जागना) होते चले गये और ज़ुबैदा का ख़याल एक तेज़ नशे की तरह मेरे दिलो-दिमाग़ पर ज़्यादा से ज़्यादा हावी होता गया!

मैं इसी मदहोशी के आलम में था कि आखिर कार वह वक़्त आ गया जिसका आना लाज़िमी था। तक़दीर के आगे ज़ुबैदा के माँ-बाप की कुछ न चली और उन्होंने हार मान ली। रशीदा के ब्याह के इन्तिज़ार में वह कब तक ज़ुबैदा की जवानी को खाक में मिला सकते थे। उन्होंने फ़ैसला कर लिया कि रशीदा से पहले ज़ुबैदा की शादी रचा देंगे। रिश्ता तै पा गया और आने वाली तक़रीब की तैय्यारियाँ होने लगीं।

मुझे कुछ भी सोचने-समझने का मौक़ा नहीं मिला। ज़ुबैदा की शादी एक चढ़ती हुई आंधी और उठते हुये तूफ़ान की तरह आ गई। मैंने कुछ देखा तो यह देखा कि एक दिन बड़ी धूम-धाम के साथ बरात आई, देगें पकी, मेहमानियाँ हुईं, गाना बजाना हुआ और सुब्ह से शाम तक खूब चहल-पहल रही। शाम के वक़्त मैं अपने मकान की तीसरी मंज़िल पर खपरैल के साइबान के नीचे बैठा था। दो-चार किताबें मेरे सामने पड़ी थीं। मगर मेरा ध्यान उस हंगामे (शोर-ग़ुल) की तरफ़ था जो बराबर वाले घर में मचा था।

मैं कुछ सोच रहा था। मालूम नहीं क्या सोच रहा। यकायक गली में शोर हुआ मैंने मुंडेर पर चढ़ कर नीचे झाँका। एक पाल्की हमसाई के घर के दरवाज़े से लगी हुई थी और लोग इन्तिज़ार के आलम में अपनी नज़रें ड्योढ़ी पर जमाये हुये थे।

मैं मुंडेर से उतर कर अपनी जगह पर आ गया। "ज़ुबैदा रुख़्सत हो रही है !" एकदम यह ख़याल में ज़ेह्न में दाखिल हुआ और वह आग जो कई दिन से दिल में आहिस्ता-आहिस्ता सुलग रही थी एकदम भड़क उठी। मुझे ऐसा महसूस हुआ कि मेरा सारा वजूद (अस्तित्व) एक शोले (आग की लपट) में तब्दील हो गया है। थोड़ी देर यह कैफ़ियत रही और फिर जिस तरह दहकती हुई आग और भड़कते हुए शोले अपने पीछे राख के एक राख के ढेर के सिवा कुछ नहीं छोड़ जाते, उसी तरह मैंने देखा कि मेरे सीने में जले हुए दिल की राख के सिवा और कुछ नहीं है। मैं उजड़ चुका हूँ, लुट चुका हूँ, मेरी जन्नत मुझसे छिन गई और मेरी रूह में एक वीरानी-सी पैदा हो गई।

नमुरादी और मायूसी का यह एह-सास मेरी ज़िन्दगी में अपनी तरह का पहला एहसास था, जो बहुत दिनों तक एक सर्द और तारीक (अंधेरे) कुहरे की तरह मुझे घेरे रहा। फिर चूंकि वक़्त का मरहम गहरे से गहरे ज़ख्म को भी भर देता है, इस एहसास की ज़्यादती में भी धीरे-धीरे कमी होने लगी। यहाँ तक कि यह सारा वाक़या एक भूली हुई कड़ुवी और मीठी याद से ज़्यादा न रहा।

अब दस साल के बाद फिर उस ग़म की क़िस्मत में ताज़ा होना लिखा था। पड़ोस में वकील साहब की लड़की

[शेष पृष्ठ ६४ पर]

क़िलए : रूप-बहरूप

●

अहमद नदीम क़ासिमी

तेरी ज़ुल्फ़ें हैं कि सावन की घटा छाई है
तेरे आरिज़[1] हैं कि फूलों को हँसी आई है
ये तेरा जिस्म है कि सुब्ह की शहज़ादी की
ज़ुल्मते-शब[2] से उलझती हुई अंगड़ाई है

●

मुहब्बत मुँह छुपाती फिर रही है
तमन्ना लड़खड़ाती फिर रही है
मगर बा-इं-हमा,[3] तेरी जवानी
थिरकती, गीत गाती, फिर रही है

●

ओढ़नी से न पोंछ अश्कों को
देख भाँडा न फूट जाये कहीं
इतनी पत्थरीली राह पर, ये चाल
देख गागर न टूट जाये कहीं

●

बाल आवारा, होंट बेरौनक़
और आँखें हैं खोई-खोई-सी
शब को किसके नसीब जागे थे?
नज़र आती हो आज सोई-सोई-सी

●

चाँद, पीपल की टहनियों से परे
एक बदली में मुँह छिपाता है
चिलमनों से उधर दोपट्टे में
तेरा घबराना याद आता है

●

गुनगुना तो इक बहाना था
बस तुझे इस तरफ़ बुलाना था
और दिखाकर ये मसले-मसले फूल
तेरे एहसास को जगाना था

१—गाल, २—रात का अंधेरा, ३—इन सब के होते हुए।

करीम ख़ाँ ?
मुझे बेहद ख़ुशी है
कि मोतीजान
शरीफजादी बन गई है,
मगर उसका शौहर
है कौन ?

शरीफजादी

•

सलीम ख़ाँ

चौधरी नत्थू खाँ अपनी दूकान के पटरे पर बिछी हुई कुर्सी पर बैठा हुक़्क़ा पी रहा था कि उसे करीम नज़र आया। वह बाज़ार में हलवाई की दूकान का चक्कर काट कर गली में दाखिल हुआ था। उसी गली में चौधरी नत्थू खाँ की जूते बनाने की दूकान थी, जिस पर 'चौधरी लेदर वर्क्स' का उर्दू और अंग्रेज़ी में लिखा हुआ बोर्ड लटका हुआ था। चौधरी इस दूकान को कारखाना कहता था। चौधरी ने हुक़्क़े का ज़ोर से क़श लिया और बालों से अटे हुए नथनों से धुआँ छोड़ते हुए गली में नज़र दौड़ाई। करीम गली का फ़र्श नापता आहिस्ता-आहिस्ता चला आ रहा था। उसका सर झुका हुआ था। और क़दम बोझल थे। यूँ जैसे किसी गहरी सोच में गुम हो। चौधरी नत्थू ने सोचा ज़रूर कोई पैग़ाम लाया है।

चौधरी नत्थू खाँ चन्द साल पहले जूते का कारीगर था। मगर अब कारोबारी सूझ-बूझ से 'चौधरी लेदर वर्क्स' का मालिक बन गया था। उसने एक दर्जन कारीगर तन्ख़ाह पर मुलाज़िम रक्खे हुए थे, जो उसके लिए जूते बनाते, और चौधरी इन जूतों को छोटे-छोटे दूकानदारों में बेच कर ढेरों मुनाफ़ा कमाता। उस कमाई से उसने चन्द प्लाट ख़रीद कर छः छोटे-छोटे मकान बनाए थे, जो फ़ी मकान पचास रुपया माहवार पर उठे हुए थे, ज़ाती इस्तेमाल के लिए उसके पास एक ताँगा था, जिसे पहाड़ी घोड़ी खींचती थी और जिसमें बैठ कर वह मोतीजान के पास नुमाइश देखने के लिए जाता था।

करीम ने माथे पर हाथ ले जा कर अफ़यूनियों के से अंदाज़ में सलाम किया और खड़ा हो गया। उसके चेहरे पर बेज़ारी का ग़िलाफ़ चढ़ा हुआ था।

"करीम खाँ! कैसे आए हो?" चौधरी ने नथनों से धुएँ की क़तारें रवाना करते हुए मेहबानी अन्दाज़ में पूछा।

"हुज़ूर की ख़ैर, बीबी जी ने पूछ भेजा है कि अब हुज़ूर हमारे ग़रीब-ख़ाने पर क्यों नहीं आते" करीम ने कुछ अपने हिस्से की और कुछ मोती जान के हिस्से की नर्मी लहजे में घोसले हुए कहा।

"करीम खाँ बात अस्ल में यह है कि अब वहाँ जाते हुए डर-सा लगता है। क्योंकि पुलिस वाले अब रोब-लिहाज़ में नहीं रहे।"

"हुज़ूर की ख़ैर! बीबी जी ने कहा था, कि अगर आप यह फ़र्माएँ कि डर लगता है, तो मैं बीबी जी की तरफ़ से अर्ज़ करूँ कि डरने की अभी कोई ऐसी बात नहीं क्योंकि रन्डियों वाला क़ानून अभी लागू नहीं हुआ —"

चौधरी हँस पड़ा, इसकी क्या कुप्पा तोन्द, लम्बी मूछें और मटयाली टोपी पर ज़रा देर के लिए घबराहट उमडी और फिर सुकून में बदल गई।

"करीम! क़ानून वाक़ई अभी लागू नहीं हुआ, मगर अक़्लमन्दी यही है कि एहतियात बरती जाय। शह्र में मेरी थोड़ी बहुत इज़्ज़त है, मैं नहीं चाहता यह इज़्ज़त पुलिस के ज़रीए ख़ाक में मिल जाय।"

"हुज़ूर की ख़ैर! बात तो ठीक है, मगर बीबी जी ज़रा घबराई हुई हैं, और उसकी घबराहट ने मुझको घबरा दिया है।" करीम ने अर्ज़ किया। चौधरी नत्थू ख़ाँ संजीदगी से बोला,

"मैं उसकी घबराहट दूर नहीं कर सकता। और फिर वह अकेली नहीं है, उस जैसी सैकड़ों औरतें हैं, उससे कहना अपने-आप पर भरोसा रक्खे और अब तुम जाओ।"

चौधरी ने पहलू की जेब से बड़ी एहतियात से एक रुपये का नोट निकाला करीम को दिया। करीम ने

डगर

नोट पकड़ा। ज़रा-सा झुका और नोट वाले हाथ को माथे पर ले जा कर सलाम किया, और मुँह मोड़ कर गली में चलने लगा।

करीम मोतीजान का नौकर था, और हर वक़्त मोतीजान के पास रहता था। वह मोतीजान के अलावा उसके गाहकों की भी टहल-सेवा करता था, और उसके बदले में दो-चार रुपए रोज़ाना कमा लेता था। शक्लो-सूरत में वह तीस-पैंतीस साल का बेज़रर आदमी नज़र आता था। मगर एक अर्से तक जरा-एम-पेशा लोगों के साथ घुल-मिल कर रहने की वजह से काफ़ी खुर्रान्ट हो गया था। वह शक्ल देख कर पहचान लेता था कि यह किस क़िस्म का और किस क़िक़िमाश का गाहक है। मुश्किल वक़्त में वह अफ़यूनी के खोल से निकल कर सुलगती आँखों वाला क़ातिल भी बन सकता था। इसके बरअक्स (विपरीत) मोतीजान एक सादा-सी मुहब्बत वाली औरत थी, जिसकी सब से बड़ी खूबी उसका भोला-भाला खिला हुआ चेहरा और ताज़ा पतंग की तरह तना हुआ टूटा हुआ जिस्म था। भोला-भाला खिला हुआ चेहरा, तना हुआ टूटा हुआ जिस्म, और ज़रूरतें समझने वाला नौकर। इन तीन बातों ने मिल कर चौधरी नत्थू ख़ाँ को मोतीजान का गाहक बना दिया था, मगर अब रन्डियों के खिलाफ़ क़ानून लागू होने वाला था। और नत्थू ख़ाँ ऐसे मालदार लेकिन चालाक गाहक मुहतात हो गए थे, कमाई घट गई थी, और रन्डियों में घबराहट थी। इन रन्डियों में एक मोतीजान भी थी, जिसका नौकर नत्थू ख़ाँ से मायूस होकर वापस लौटा था। दूसरे दिन रन्डियों के खेलाफ़ आर्डीनेन्स नाफ़िज़ (लागू) हो गया।

आर्डीनेन्स के लागू होने के तीसरे दिन करीम फिर चौधरी नत्थू ख़ाँ की दूकान पर आया। वह बेहद परीशान था। उसने झुक कर चौधरी को सलाम किया और परीशानी के आलम में चौधरी जी के मुंह को तकने लगा, उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि चौधरी साहब से क्योंकर बात करे, फिर नत्थू ख़ाँ ने ही इस सुकूत को तोड़ा,

"करीम ख़ाँ, बोलो क्या बात है, कुछ, घबराए हुए हो ?"

"हुज़ूर ! क्या अर्ज़ करूँ, बीबी जी ने मुझे हुक्म दिया है कि मैं कोई ऐसा आदमी तलाश करूँ, जिसके साथ वह शादी कर सकें।" चौधरी कुर्सी से उछल पड़ा, "वाक़ई ? मोती जान शादी कर लेगी ?"

"जी हुज़ूर! वह कहती हैं—अब और कोई चारा नहीं, वह छोटी-सी थी कि उसे अग़वा कर लिया गया, और फिर वह फ़ैज़ाबाद से लेकर इलाहाबाद तक बिकती रही। अब न तो उसका कोई माँ-बाप है और न ही कोई बहन भाई, वह पढ़ी-लिखी भी नहीं। पिछले छब्बीस-सत्ताईस बरस में तिनका तोड़कर दोहरा नहीं किया, इसलिए

किसी घर में काम काज कर के अपना पेट पालने से रही। अब सिर्फ़ एक सूरत है कि उस की किसी भले आदमी से शादी हो जाय।"

"करीम खाँ! अगर मोती जान की शादी हो गई तो तुम कहाँ जाओगे?"

चौधरी ने करीम का रद्दे-अमल जानना चाहा।

"अल्लाह कारसाज़ है, मैं तन्हा हूँ, किसी आप जैसे धनवान की चिलम भरके पेट-पूजा कर लिया करूँगा।"

"तो तुम्हें अपनी ज़ात से ज़्यादा अपनी बीवी जी की फ़िक्र है? है न—?"

"जी हुज़ूर, मैंने पाँच साल तक उसका नमक खाया है, अब उस पर मुसीबत आई है, अगर मैं साथ छोड़ दूँ, तो मैं सारी उम्र अपने आप से शर्मिन्दा रहूँगा। जो भी जानेगा कहेगा, मर्द का बच्चा नहीं था!"

"ठीक है! ठीक है!" चौधरी नत्थू खाँ ने करीम की बात काटते हुए जल्दी से कहा। वह करीम से जान छुड़ाना चाहता था। उसे डर था कि कोई करीम को पहचान न ले। और यह न कहे कि एक-रन्डी का नौकर चौधरी नत्थू खाँ से गुफ़्तुगू कर रहा है, और मालूम नहीं क्या गुफ़्तुगू कर रहा है?

"मगर यह तो तुमने बताया ही नहीं करीम खाँ कि कोई आदमी तैय्यार भी हुआ है तुम्हारी बीवी से शादी करने के लिए? हुआ कोई?"

"हुआ क्यों नहीं!"

करीम ने फ़ख़्र से गर्दन उठा कर कहा, "एक साहब आये थे, उम्र कोई चालिस साल थी, कारवाले थे, पैसे वाले आदमी थे, मगर बीबी जी ने पसन्द नहीं किया।"

"पसन्द नहीं किया? क्या कहा तू ने? पसन्द नहीं किया?" चौधरी ने ग़ुस्सा दबाते हुए कहा।

"हुज़ूर बीबी जी ने कहा कि यह आदमी काना है, मैं इससे शादी नहीं बनाऊँगी। शादी बनाऊँगी, तो किसी अच्छी शक्ल वाले से बनाऊँगी।"

"बेवक़ूफ़ उसे रोटी चाहिए न, कि आँखें।" चौधरी ग़ुस्से में बोला।

"एक दूसरे साहब आए थे, जवान थे, सूरत-शक्ल फ़स क्लास थी। बीवी जी ने उसे पसन्द भी किया मगर वह साहब ग़रीब थे। बीबी जी ने कहा कि मैंने अब तक ऐश किया है, अब ग़रीबी में बसर न होगी।"

"बस दो ही आए या कोई तीसरा भी आया?"

"जी एक तीसरा साहब भी आया। इसकी शक्ल भी अच्छी थी, और ज़मीनों का मालिक भी था। ज़मींदार क़िस्म का आदमी था।"

"तो फिर शादी उससे तै हो गई।"

"नहीं हुज़ूर मालूम हुआ है कि वह किसी क़त्ल के मुक़दमे में सज़ा पा चुका है," ... "और तुम्हारी बीवी ने जिसका नाम मोतीजान है, उसे भी धुत्कार दिया। वह परले दर्जे की बेवक़ूफ़ है, वह कारोबारी एतवार से बिल्कुल

नहीं सोचती, वह ज़ेहन से नहीं दिल से सोचती है, वह सिर्फ़ जिस्म सिपुर्द करना जानती है, बताओ अब मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ ?" चौधरी लाल-पीला होकर बोला। असल में उसे ग़ुस्सा इस बात पर आ रहा था कि करीम बात खत्म करके जाता क्यों नहीं। "हुज़ूर आप क्या कर सकते हैं; बस दुआ माँगिए बीबी जी को उसकी पसंद का शौहर मिल जाए।"

चौधरी ने जेब से पाँच रुपए का नोट करीम के हवाले करते हुए ग़ुस्से में कहा, "मेरी दुआ से कुछ न होगा, मैं वली-अल्लाह नहीं हूँ कि मेरी दुआ क़ुबूल हो, तुम खुद कोशिश करो, कोई चारा करो।" और वह यह कह कर दूकान के अन्दर चला गया।

अगले दिन करीम फिर चौधरी नत्थू ख़ाँ की दूकान के सामने खड़ा था, वह बेहद् खुश था, उसने साफ़-सुथरे कपड़े पहने हुए थे, सर के बाल तेल में चुपड़े थे, और जबड़े में गिलौरी ठुँसी हुई थी, जिसे वह आहिस्ता-आहिस्ता जुगाली के अमल से रेज़ा-रेज़ा कर रहा था। चौधरी दूकान से बाहर आया और पटरे पर खड़ा हो गया।

"करीम ख़ाँ कैसे आए हो ? और हाँ तुम खुश नज़र आते हो।"

"हुज़ूर ? मैं खुशखबरी लाया हूँ आपके लिए। बीबी जी को उसकी पसन्द का शौहर मिल गया।"

"मुबारक हो ? तेरी मेहनत अकारत न गई और तेरी बीबी जी को भी कि अब वह शरीफ़ज़ादी बन कर ज़िन्दगी गुज़ारेगी।"

"हुज़ूर वह तो ठीक है कि वह शरीफ़ज़ादी बन गई, मगर अब वह रहेगी कहाँ ?"

"अपने शौहर के पास ?"

"हुज़ूर उसके शौहर के पास मकान नहीं।"

"तो फिर कहीं मकान किराये पर ले लो।"

"जी इसी लिए हाज़िर हुआ हूँ, सुना है आपके पास किराये के मकान हैं, और उनमें से कोई ख़ाली भी है।"

"तुझे कैसे पता चला कि मेरे पास किराये के लिए कोई ख़ाली मकान है ?"

"हुज़ूर मैं देख कर आया हूँ।" यह कहते हुए करीम हँस पड़ा। और उसके मुँह से सुर्ख़-सुर्ख़ लहू ऐसा थूक गिर कर गरीबान पर आ रहा।

"बहुत बदमाश हो फिर तो," चौधरी मुस्कुराकर बोला, "मकान का किराया पचास रुपया होगा, न कम न ज़्यादा।"

"हुज़ूर ! मंजूर है, पचास रुपए किराया मंजूर है," करीम गली में नाचते हुए बोला।

"मगर करीम ख़ाँ ? तूने यह तो बताया ही नहीं कि मोतीजान का शौहर कौन है ? क्या कोई दफ़्तर का बाबू है ?"

"नहीं हुज़ूर ! दफ़्तर का बाबू नहीं है, कारोबारी आदमी है।"

"वेरी गुड, हम भी कारोबारी आदमी और हमारी मोतीजान का शौहर भी कारोबारी आदमी है, करीम खाँ ? मुझे बेहद ख़ुशी है कि मोतीजात शरीफ़जादी बन गई है, मगर उसका शौहर है कौन, मैं इस शहर का रहने वाला हूँ, शायद वह मेरा थोड़ा बहुत वाक़िफ़ निकले।" करीम खाँ ने पीक नाली में थूक कर मैले से रूमाल से मुँह साफ़ किया और सर झुका कर बोला,

"हुज़ूर! आपके इसी ख़ादिम ने बीबी जी से ब्याह किया है।"

चौधरी नत्थू खाँ कुछ देर के लिए पटरे पर गुमसुम खड़ा रहा, फिर वह पटेर से उतर कर गली में आया और करीम खाँ के सामने खड़ा हो गया।

"क्या तू सच कहता है ?"

"हुज़ूर की ख़ैर! बिल्कुल सच कहता हूँ, शादी के काग़ज़ पर मैंने अपना नाम लिखवा दिया है।" फिर वह साज़िशी अंदाज़ में बोला, "आपसे पर्दा क्या, कारोबार वही रहेगा, जो अब तक रहा है। मेरी हैसियत भी वही रहेगी, जो अब तक रही है। बस ज़रा दूकान बदल जायेगी। आपको पसन्द हो तो मकान दे दीजिए, वरना मैं कोई और मकान तलाश करता हूँ।"

चौधरी नत्थू खाँ ने अपना हाथ करीम के कंधे पर रक्खा, और आहिस्ता से बोला, "मैं ख़ुद कारोबारी आदमी हूँ, मुझे तुम्हारी तरकीब और चाल बहुत पसन्द आई है। मकान आज से तुम्हारा है, मगर एक बात है, किराया सौ रुपए माहवार होगा, कहो मंज़ूर है ?"

"हुज़ूर मुझे मंज़ूर है!" करीम खाँ ने गर्दन फ़ख्र से बलन्द करते हुए कहा, चौधरी ने जेब से चाबियों का गुच्छा निकाला, करीम की आँखों के सामने किसी जादूगर की तरह लहराया और पूछा, "करीम खाँ हम पर तो कोई पाबन्दी नहीं होगी न ?"

"हुज़ूर आप क्यों शर्मिन्दा करते हैं, यह सब कुछ आपके आराम और सहूलत के लिए किया गया है।"

और वह दोनों ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगे।

[पृष्ठ ५७ का शेष]

की शादी हुई और वह रुख्सत होने लगी तो मेरा ज़ेहन बेअख़्तियार दस साल पहले के वाक़ये की तरफ़ मुड़ गया। मैंने, जैसे उस आईने में ज़ुबैदा की रुख्सती का मंजर देखा और थोड़ी देर के लिये मुझ पर वही कैफ़ियत तारी हो गई, जो दस साल पहले इस शिद्दत (तेज़ी) के साथ मेरे दिलो-दिमाग़ पर छा गई थी।

और अब क्या सोचता हूँ कि अल्लाह! क्या यह ग़म इसी तरह मेरा पीछा करेगा ? क्या हर रुख्सत होने वाली दुल्हन मेरे दिल को यूँ ही धड़कती हुई छोड़ जायेगी।

व्यंग

रवाज पाना तम्बाकू का

अहमद जमाल पाशा

रूस के एक साइंसदाँ ने जिनको 'नोबुल-प्राइज़' भी मिल चुका है, दावा किया है कि "तम्बाकू अक़्ल को तेज़ करती है।" अक़्ल की इस तेज़ी का तजरूबा उन्होंने जानवरों पर किया है। उनका कहना है कि 'तम्बाकू खाने के बाद जानवरों की अक़्ल तेज़ हो जाती है।'

अब तक हम यह समझते थे कि घास खाने से जानवरों में तेज़ी आती है और अगर कोई आदमी घास खा ले, तो उसकी अक़्ल ग़ायब हो जाती है। हमें नहीं मालूम कि उन्होंने क्या खिला कर तजरूबा किया और तजरूबा करने वाले चौपायों में अपने आप को शामिल किया या नहीं। लेकिन हम यह ज़रूर जानते हैं कि अगर अक़्ल की तेज़ी का पैमाना (मापदंड) तम्बाकू रक्खा गया तो फिर इस क़िस्म के दावे सुनने में आया करेंगे, "भाँग पीने से अक़्ल तेज़ होती है!"

"चुर्स पीने से जिस्म में फ़ुर्ती आती है अक़्ल बढ़ जाती है।"

"शराब-नोशी के बग़ैर अक़्लमन्दी मुम्किन नहीं। अपनी अक़्ल बढ़ाने के लिए........बार में तशरीफ़ लाइए।"

"उल्लू मार्का शराब अक़्ल पर पालिश कर देती है।"

"अफ़ीम तबीअत में ग़ौरो-फ़िक्र का मअद्दा पैदा करती है।" दुनिया के बेश्तर मुफ़क्किर (दार्शनिक) अफ़ीम खाते थे।"

"याद रखिए अगर आपने गाँजा न पिया, तो अक़्ल जैसी नेमत से हमेशा महरूम रहिएगा।"

"यह सही है कि अक़्ल बाज़ार से किराए पर नहीं मिल सकती लेकिन यह हुक़्क़ा-नोशी से ग़ौरो-फ़िक्र का मअद्दा पैदा होता है।"

अगर साइंसदाँ साहब का यह दावा तसलीम कर लिया गया तो आइंदाँ दिमाग़ी एलाज तम्बाकू के ज़रीए हुआ करेगा। अक़्ल को तेज़ करने और क़ाबू में लाने के लिए तम्बाकू इस्तेमाल हुआ करेगी। पन्वाड़ियों और तमोलियों की दूकानों के बजाए तम्बाकू फिर दवाखानों और हस्पतालों में मिला करेगी।

ऐसी सूरत में डाक्टर तम्बाकू खाने और पीने के नुस्खे अक़्ल के तलब-

गारों के लिए तजवीज़ किया करेंगे कि बेवक़ूफ़ आदमी अक़्ल से महरूम शख्स ज़रूरत से ज़्यादा अक़्लमन्द इन्सान की अक़्ल में तवज़ुन (संतुलन) पैदा करने, अक़्ल लाने और अक़्ल रूखसत करने के लिए डाक्टर बताया करेंगे कि किस मरीज़ को तम्बाकू किस शक्ल में दी जाय, मरीज़ के लिए तम्बाकू की पत्ती, दाना, क़वांम, ज़रदा और गोलियों में से क्या मुनासिब रहेगा। तम्बाकू हुक़्क़े की सूरत में खमीरह या कड़ुवा के इन्जेक्शन दिए जायें।

तम्बाकू का इस्तेमाल अक़्ल के लिए मखसूस होने के बाद सिग्रेट-बीड़ी और तम्बाकू की दूकानें या तो बन्द हो जाँयगी या फिर इनकी वही हैसियत होगी जो आज अफ़ीम, गाँजे और चुर्स की दुकानों की है यानी उनके बाक़ायदा लाएसेन्स हुआ करेंगे, जहाँ पुराने नश्शा-बाज़ों को लम्बी-चौड़ी क़ीमत अदा करने पर एक-आध डिब्बी सिग्रेट या बंडल बीड़ी मिल सकेगा। आदी नश्शाबाज़ों को ग़ालेबन डाक्टरी सर्टिफ़िकेट दिखलाने के बाद एक आध सिग्रेट-बीड़ी मिल सकेगी।

पुलिस इस क़िस्म के ख़ुफ़िया फ़रोशों और स्मगलिन्ग करने वालों को भी पकड़ा करेगी जो तम्बाकू की नाजाएज़ तिजारत का धन्धा करते होंगे।

इसलिए क्यों न अभी से दिल की भड़ास निकाल ली जाय और आड़े वक़्त के लिए इन्तिज़ाम कर लिया जाय। अलबत्ता एक पेचीदा मस्अला यह है कि अक़्ल के मारों को तम्बाकू में पनाह मिल जायेगी मगर तम्बाकू के मारे पनाह ढूंढ़ने कहाँ जायेंगे!

[पृष्ठ ८८ का शेष]

हुई। वह गाँव तकिये से टेक लगाये बैठा था। सामने एक बड़ा-सा चाक़ू खुला पड़ा था। दोनों सहम कर रह गये। खलीफ़ा जी ने दोनों को लम्हा-भर तक गहरी नज़रों से देखा और फिर त्योरी पर बल डाल कर बोला,

"देखो बे आज तुम्हारी ड्योटी मुक़र्रर कर रहा हूँ, मगर इतना याद रखना कि मेरे साथ इधर-उधर की तो समझ लेना कि टुकड़े करके यहीं दफ़्न कर दूँगा।"

दोनों ने गर्दनें हिलाकर उसको यक़ीन दिलाया। वह बोला, "गाय की तरह यूँ गर्दन हिला देने से काम नहीं चलेगा। क़समें खाओ।"

दोनों ने खुदा की क़समें खाईं। उसके बाद खलीफ़ा जी ने कन्टाक को बुलाया। वह उनका खास आदमी था। उसका क़द लम्बा था और आवाज़ बैठी हुई थी।

राजा और नौशा को कन्टाक के साथ कर दिया गया और यह हिदायत दी गई कि कन्टाक जिन-जिन कोठियों का पता बतायेगा वह वहाँ जाकर नौकरी तलाश करने की कोशिश करोगे। नौकर हो जाने के बाद वह रोज़ाना कन्टाक को यह रिपोर्ट दिया करेंगे कि कोठी के अन्दर क़ीमती सामान कहाँ-कहाँ रक्खा है, कितने लोग हैं, किस वक़्त सोते हैं। मर्द सवेरे कै बजे बाहर निकल जाते हैं और कब वापस लौटते हैं। घर वालों का किसी रात को सनीमा देखने या किसी दूसरी जगह जाने का प्रोग्राम हो तो उसको ध्यान में रक्खें और फ़ौरन आकर इत्तला दें।

खलीफ़ा जी ने तमाम ज़रूरी बातें अच्छी तरह उनको समझा दीं और वह कन्टाक के साथ मकान से बाहर चले गये। [क्रमशः]

रूबीना ने रैकेट एक तरफ़ फेंक दिया और थकन से चूर सोफ़े पर गिर गई। उसका साँस फूल रहा था और पसीने की छोटी-छोटी बूँदे धीरे-धीरे माथे पर से ढलक रही थीं।

"बड़ी तकलीफ़ हो रही है राशिद!" उसने बिलबिला कर अपना हाथ अपनी मुट्ठी में दबा लिया, "उफ़!"

"मैंने तो पहले ही कहा था कि कभी-कभी फूलों में छिपे हुए काँटे बड़ी जलन और खटक पैदा कर देते हैं मगर तुम्हारी तो आदत है कि हाथ बढ़ा कर हर फूल तोड़ लेती हो—!" उसने प्यार से शिकायत की।

"ऊँह—अब तो, हाय—!" वह फिर चीख उठी।

नाहीद आलम

"ऐं—!" मैं अपना अल्बम देखने के बाद खयालों में खोई हुई बेखयाली से दोनों को देख रही थी। रूबीना की बिलबिलाहट पर चौंक पड़ी।

'क्या हुआ रूबीना ?" मैंने पूछा।

"मैंने कहा हाथ में काँटा चुभ गया है बाजी।" उसने तकलीफ़ के मारे कसमसा कर कहा, "खेलने के बाद हम लोग वहाँ से लान में ठहल रहे थे। वापसी पर मैंने फूलों की क्यारी में से एक फूल तोड़ना चाहा कि—।"

"कि राशिद को भेंट कर दूँ और वह रात भर मेरे खयाल में तड़पता रहे। क्यों ?" मैं हँस पड़ी।

"हाँ मगर ओह—उफ़, हाय अल्ला, जाने अन्दर ही रह गया है काँटा।" वह अपना हाथ झिटक कर रो दी।

"पगली—एक ज़रा से काँटे पर रोये दे रही है—ला मैं निकाल दूँ अभी।" मैंने अल्बम को राईटिंग टेबुल की दराज़ में डालते हुए एक पिन निकाल कर प्यार से उसका हाथ थाम लिया।

"कहाँ है—यह, अच्छा, ज़र इधर को हो जा, हाँ बस!" मैं बहुत सहज-सहज कर उसकी उँगली को पिन से कुरेदने लगी।

"ऊई अल्ला—बड़ी दुखन हो रही है बाजी—छोड़ दो मेरा हाथ !" उसने अपना हाथ खींच लिया।

"अरे—!"मैंने ज़रा ग़ुस्से से कहा, "निकलवायेगी नहीं काँटा तो सारा हाथ पक जायेगा, और—"

"तो लो—" वह हाथ पक जाने के खयाल ही से काँप गई, "निकाल दो जल्दी से—" और उसने हाथ बढ़ा दिया। थोड़ी से मेहनत के बाद काँटा निकल गया। मैंने कुरेदी हुई जगह पर टिंकचर मलते हुये कहा,

"अब तकलीफ़ तो नहीं है ?"

"नहीं, बिल्कुल ठीक है। मेरी बाजी।" पगली ने जोश में आकर अपने होंट मेरे गाल पर रख दिये।

"हट—"मैं झेंप गई।

"मैं कहती हूँ, तुम उसे पाने के लिये अपना आपा गँवा दोगी।"

मैंने ग़ुस्से से कहा, "और फिर यह कोई तरीक़ा भी हो किसी चीज़ के हासिल करने का। तुम्हारा दिमाग़ तो खराब हो गया है—"

"अरे तुम तो समझतीं ही नहीं बाजी—रक़ाबत की आग—"

"पागल हो तुम —अच्छा खैर हुई रक़ाबत की आग—मगर यह जो तुम रोज़ाना उसका एक नया रक़ीब, पैदा कर रही हो इस से तो वह लौट कर आने से रहा। खुद तुम ही बदनाम हो जाओगी।"

"बदनाम—? लेकिन बाजी बदनामी का डर तो उसे हो, जिसके पास बदनाम करने वालों का मुँह बन्द करने के लिये ज़बान न हो—यहाँ तो–और फिर मैं क्या करूँ। अजमल, नासिर, हमीद, रक़ीब ही तो हैं एक दूसरे के, शायद इसी तरह वह भी कभी लौट आये!"

"तुम जानो!" मैंने ज़रा तेज़ हो कर कहा, "तुम समझती हो कि मैं कुतिया हूँ। भूंक-भूंक कर चुप हो जाऊंगी और तुम पर कोई असर न होगा—बड़ी बहन समझो तो—" मैंने मुँह फेर कर खिड़की के बाहर झाँकना शुरू कर दिया।

"नहीं बाजी—खुदा की क़सम, देखा न मैं तो—मुझे क्या मालूम था कि तुम इसे एतराज़ की निगाह से देखती हो। अजमल तो—"

"नहीं मुझे कोई एतराज़ नहीं है। तुम जैद, बकर, जिस के साथ चाहो फिर सकती हो—" मैंने मुड़ कर कटी हुई निगाहों से उसे देखते हुये कहा।

"तुम तो बिगड़ रही हो बाजी—यह भी—"। उसकी आँखें भीग गईं। लेकिन मैं लापरवाई से खिड़की में खड़ी, दूर आकाश की गहराईयों में, एक लाल रंग की कटी हुई पतंग को बड़ी ही बे-बसी से नीचे, उतरता हुआ देखती रही—।"

और न जाने वहाँ से भाई जान घूमते-घामते आगये, हमें यूँ रूठा-रूठा-सा देख कर बोले, "क्या बात है लड़ाई हो गई क्या?"

"नहीं तो—वाह!" मैंने बात टाल दी।

"और हाँ भई रूबी—" उन्हों ने पलंग पर लेटते हुये कहा।

राशिद का कोई खत आया—?"

"जी नहीं—" रूबीना अपने टूटे हुये नेक्लेस को पुरोते हुये धीरे से बोली, "कितने ही खत लिख चुकी हूँ!"

"क्या हो गया उसे—अभी पिछले महीने तक तो उसका खत हर रोज़ आया करता था—"

"जाते—और मैंने उसे मुबारकबादी का तार भी दिया था। ए० टी० एस० हो कर बिगड़ गया शायद!"

"हूँ—!"

"पगली—" और यकायक भाई जान ने उसे भींच लिया, "भई यह रो मत दिया करो हर बात पर, तौबा, तुम रूठे हम छूटे क्यों न सुग़रा?"

"जी और क्या—यह तो बेवक़ूफ़ है।"

और सचमुच उसकी आँखें मोती बिखेरने लगीं।

उस दिन के बाद से रूबीना ने ज़्यादातर पढ़ाई में लगी रहना शुरू कर दिया, वरना इस सैर-तमाशों ने तो उसके दिमाग़ को बिल्कुल उड़ा-उड़ा-सा कर दिया था। दो साल से इन्टर में फ़ेल हो रही थी, "जाहिल रह जाओगी।' एक दिन मैंने उसे डराया मगर कहीं वह मानने वाली थी, "तुम ने पढ़ लिख कर कौन-सा तीर मार लिया है।"

"यह बेकार की बहस ही तो जिहालत का सुबूत है।" मैंने वार चलाया। वह तिलमिला उठी—

फिर होते-होते वह बिल्कुल ही बे-ज़बान-सी लड़की बन गई। चुप-चुप रहा करती। कभी तो मुझे अफ़सोस होता अपने रवैय्ये पर।

एक दिन मैं जो उसके कमरे में गई तो कार्निस पर से हमीद और नासिर की तस्वीरें ग़ायब थीं। मेरे पूछने पर उसने सर झुका कर कहा,

"तुम ही ने तो कहा था—"

शाम को वह और मैं बरामदे में बैठे थे, वह पढ़ रही थी और मैं यूँही भाई जान के लिखे हुये मज़मून के वरक़ उलट रही थीं, जो उन्होंने एम० ए० में लिखा था कि ड्राइंग रूम में से भाई जान ने रूबी को पुकारा,

"यह भाई जान तो मारे डालते हैं। होंगे, भई इन के दोस्त। हम क्या करें। जब देखिये घसीटे लिये जा रहे हैं।"

"यह क्या हर वक़्त कोने में पड़ी सड़ती रहती हो। चलो अजमल बुला रहा है, और हाँ आज हम तुम्हारी मुलाक़ात एक बहुत ही दिलचस्प आदमी से करा देंगे, लो आओ—" उसने मुँह बना कर कहा।

"तो क्या है ज़रा देर के लिये चली आओ न? तुम्हारी हर बात तो उल्टी है। पढ़ने पर आओगी तो पढ़े जाओगी वरना किताब खोल कर देखना भी तुम्हारे मज़हब में गुनाह बन जायेगा।"

'अजमल है—और जाने कौन?"

"तो अज्मल तुम्हें खा तो न लेगा।" वहीं से भाई जान चिल्लाये। "अजीब बेवक़ूफ़ लड़की है।"

मैं बड़े ध्यान से खत लिखने में लगी थी कि पेट घसीटता हुआ अतहर आन टपका, "दिल्लगी की थी, मगर सच मुच मुहब्बत हो गई—सुनो बाजी—आहा कितना अच्छा गाना है, सुनो न, दिल्लगी की थी—आँ, तुम तो सुनती ही नहीं हो—फेंक दूँगा यह रौशनाई फिर—"

"मारूँगी अभी तुझे, हट लिखने दे।" "नहीं तो गाना सुनो पहले मेरा—"वह जिद करने लगा, "सुना भई!" मैंने ज़रा ध्यान देते हुये कहा, "दिल्लगी की थी, मगर मुहब्बत—आँ, नहीं, दिल्लगी की थी मगर सच-मुच मुहब्बत हो गई—" वह बड़ी लै में गाने लगा और मैंने उसे, दबोच लिया।

कहाँ से सीखा यह गाना तूने—शैतान !"

"उँ—तो मैंने थोड़ा ही—वह तो रूबीना बाजी गा रही थीं शाम, मैंने भी सीख लिया—अच्छा है न ?"

"बहुत अच्छा—ले भाग अब।"

और वह चिल्ला-चिल्ला कर दिल्लगी की थी मगर सचमुच मुहब्बत हो गई, गाता हुआ बाहर भाग गया।

और जब मैं खत लिख कर उन्हें डलवाने जा रही थी तो मुझे खयाल आया कि लाओ रूबी से पूछ लूं। शायद उसे भी कोई खत डलवाना हो—मगर वह बाथरूम में थी। मैं इन्तिज़ार में बैठ गई। अचानक मेरी निगाह अँगेठी पर पड़ी। राशिद की भी तस्वीर ग़ायब थी और उसकी जगह एक झिलमिलाते हुये गंगा-जमुनी फ़्रेम में अजमल की तस्वीर मुस्कुरा रही थी।

"भई यह—" वह वापस आई तो मैंने थाह लेते हुये अज्मल की तस्वीर को घूरते हुये कहा,

"इसके लिये तो बाजी—" उसने टक भरी गहरी नज़रों से मुझे देख कर आँखें झुकाते हुये कहा, "तुम मुझे माफ़ ही कर दो।"

"मेरी गुड़िया !" मैंने जज़्बात में डूब कर बेक़ाबू होते हुये रुँधे हुये गले से कहा, "तुम—"

"मैं जानती हूँ बाजी—तुम कितनी अच्छी हो !" वह मुझ से लिपट गई।

बहुत दिन बीत गये—भाई जान को मालवा में अच्छी-सी जगह मिल गई थी और वह वहाँ जा चुके थे। एक दिन मुझे उनका खत मिला कि यहाँ की बरसात कितना दिलकश है—कितनी हसीन—तुम शायद इसका अन्दाज़ा भी न लगा सको। जब मतवाली घटायें घिर-घिर कर जमा होती हैं, जब कोयल का सीना ग़म के मारे फटने लगता है, जब पपीहे, 'पी' की तलाश में नाकाम लौट कर, वहीं आम के पेड़ों पर इकट्ठे होते हैं और मोर झन्कारते-झन्कारते पागल हो जाते हैं, तो तुम मुझे बेहद याद आती हो—तुम्हें वहीं की बरसात पसन्द है। यहाँ आओ तो मालूम हो कि बरसात किसे कहते हैं ! कितना रूप, कितनी मस्ती और कितने गीत बिखेरता हुआ आता है यह मौसम शायद हफ़्ते भर तक मैं वहाँ आऊँ तो तुम्हें भी अपने साथ ले आऊँगा। तैय्यार रहना, रूबी बेचारी का तो पढ़ाई का हरज होगा वरना—उसे दुआ कह देना।"

मालवा की बरसात—मैं तो वहाँ जाकर ऐसी मस्त हुई, जैसे ढेरों नश्शा चढ़ा लिया हो। ख़ुद को नेचर से इतनी क़रीब महसूस करके मैं बेख़ुदी से झूमने लगती—

"अरे गुम हो गई सुग़रा तो—" भाई जान मुझे छेड़ा करते।

और मैं कहती "ढूंढ लीजिये न ?"

"कहाँ ढूंढूं—?" वह बनावटी बेबसी से कहते "पेड़ों के झुंड में—शफ़क़

की लालियों में—झूमते हुये मस्त बादलों में, रंगीन धनुक में—मोर की झन्कार में—"

"ओहो—" मैं हँस पड़ती, "जब यह चीज़ें आपको शाएर बना सकती हैं तो—"

"तो तुम्हारा दीवाना हो जाना कोई तअज्जुब की बात नहीं—है न?"

दिन हँसते-हँसाते बीत रहे थे—लेकिन बरसात के खत्म होते ही मेरे दिल और दिमाग़ पर उदासी-सी छाने लगी। कभी तो रूबीना इतनी याद आती कि मैं चिल्ला पड़ती। जंग की वजह से भाई जान के पास काम इतना ज़्यादा आ गया था कि छुट्टी मिलना मुहाल थी इसलिये वापस जाना टलता रहा।

उधर चचा जान और चची वग़ैरा के ख़तों से यह मालूम करके रूबी को हल्का-हल्का बुख़ार रहने लगा है, हर वक़्त जान निकलने लगती। मगर भाई जान हर बार तसल्ली दे देते कि कोई बात नहीं, मलेरिया होगा, मौसम ख़राब है न?"

लेकिन दो-तीन महीने के बाद चचा जान के तार ने तो हमें बिल्कुल ही गड़बड़ कर दिया। उन्होंने लिखा था कि "रूबीना को सेनिटोरियम में दाख़िल करा दिया है। उसकी हालत नाज़ुक है जल्द ही पहुँचो।" अब के भी भाई जान ने बहुतेरा ज़ोर लगाया लेकिन छुट्टी न मिल सकी। मैं अकेली ही चल पड़ी। स्टेशन पर वह ग़रीब रो दिये, "मैं इस्तेफ़ा दे दूँगा! लानत है इस नौकरी पर।" ग़म और ग़ुस्से से उनकी आवाज़ काँप रही थी, "पहुँचते ही तार दे देना रूबी की ख़ैरियत का, समझीं।" चलते-चलते उन्होंने मुझसे कहा।

शाम को चार बजे गाड़ी मंज़िल पर पहुँची थी—और सेनिटोरियम वहाँ से बारह-तेरह मील की दूरी पर था। मैंने सोचा कि पहले घर चल कर उसकी ख़ैरियत का पता लगा लूँ लेकिन फिर ख़याल आया कि वहाँ पहुँच गई तो कहीं सुब्ह जाना मिलेगा। इससे अच्छा यही है कि वहीं चली चलूँ सीधी—"

और मैं जिस वक़्त वहाँ पहुँची तो रूबीना सो रही थी, सरहाने बैठी चची तस्बीह फेर रही थीं। उनकी आँखें सूजी हुई थीं, जैसे कई रातें रो-रो और जाग-जाग कर काटी थीं। उन्होंने मुझे बताया कि रूबीना के दोनों फेफड़े बिल्कुल खोखले हो चुके हैं और उनमें ए० पी० दी जाती है।

मैंने चची की ख़ुशामद-बरामद करके उन्हें घर भेज दिया कि आज आप आराम कीजिये, मैं जो आ गई हूँ अब। उन्होंने बाहर क़दम रक्खा ही था कि रूबीना कसमसा कर उठ बैठी।

"अरे बाजी तुम!—" उसने हैरत से मुझे देखा।

"हाँ—मगर यह तुम्हें क्या हो गया है रूबीना?" मैंने भरे हुये गले से पूछा।

"कुछ भी नहीं बाजी—बस काँटा चुभ गया था।" जैसे रगों में दौड़ता हुआ खून एकदम रुक गया हो, वह फिर बोली, "उसे हासिल करने के लिये मैं ख़ुद को धोका दे-दे कर, फूलों के साथ खेलती रही—लेकिन मेरी रूह की गहराइयों में वीरानी बदस्तूर करवटें लिया कि, फिर मैंने एक को चुन लिया, अजमल—और धीरे-धीरे मुझे महसूस हुआ, जैसे मेरी सारी मुहब्बत, सारा प्यार उसी के लिये है। इन्सान की ज़िन्दगी बिना किसी को प्यार किये बिल्कुल बेकार रहती है न ?" उसकी आँखें जल्दी-जल्दी झपकने लगीं—

"हाँ—लेकिन—"

"और एक दिन अजमल ने नसरीं से शादी कर ली—फूल के नीचे छिपा काँटा चुभ गया मेरे—तुम नहीं थीं न, और होती भी तो यह काँटा निकालना तुम्हें मुश्किल हो जाता—वह गहरी नज़रों से मुझे तकने लगी,

"और बाजी अब तो, अन्दर ही अन्दर सड़के उसने चारों तरफ़ ज़ख़्म ही ज़ख़्म भर दिया है।" उसने बेचैन होकर करवट लेते हुए कहा,

"न जाने कब सारे बदन में फैल जाये—राशिद कहता था कि फूलों के नीचे छिपे हुये काँटे बड़ी खटक पैदा कर देते हैं। बेजाने-बूझे फूलों में हाथ डालना नादानी है—बेचारा राशिद—! जाने कहाँ और कैसा होगा ?" उसने आँखें बन्द कर लीं।

"मुझे मालवा में मिला था वह—" उसने बेसब्री से आँखें खोल दीं।

"हाँ !" मैंने कहा, "अजीब आदमी हो—कम से कम रूबी को खत तो लिख दिया करो। वह तुमसे बहुत नाख़ुश है कि उसके इसरार के बावजूद न तुम उसे खत ही लिखते हो और न वहाँ जाते ही हो—उदास-सा होकर कहने लगा कि तुम भी तो ज़्यादती करती हो सुग़रा ! मैं यह सूरत लेकर चला जाऊँ उसके पास। उसके दिल को कितनी ठेस लगेगी, कितना सदमा होगा उसे—"

"ऐं—तो क्या जाने क्या कह रही हो बाजी ! मैं नहीं समझ सकी !"

"उसके चेहरे पर चेचक के बदनुमा दाग़ पड़ गये हैं न ?" मैंने डरते-डरते ऐसे कहा जैसे कोई दिल हिला देने वाली बात कह रही हूँ।

"ओह—!" उसने रज़ाई खींच कर अपना मुँह ढक लिया और थोड़ी देर के बाद घुटी हुई आवाज़ में बोली।

"जी घबरा रहा है बाजी—"

"सो जाओ—" मैंने तपक कर कहा।

"कोई बात नहीं।"

"तुम भी तो सो जाओ, इतना लम्बा सफ़र करके आई हो, थक गई होगी।"

"अच्छा—" और मैं उसके सरहाने आराम कुर्सी पर पीठ टेक कर ऊँघने की कोशिश करने लगी लेकिन डरावने ख़ाब हर बार मुझे चौंका देते।

......रूबीना सोई पड़ी थी। मैंने खिड़की के दोनों पटों के बीच से

झाँकती हुई रौशनी की पतली लकीर को देख कर अन्दाज़ा लगाया कि दिन निकल आया है, पर सांस था कि जैसे कोई अन्दर ही अन्दर घूट दे रहा हो। तेज़ सर्दी की परवाह न करते हुये मैं दबे पाँव बरामदे में आ गई।

बरफ़ीली हवायें सनसनाती हुई बर्फ़ से ढके हुये पेड़ों में भटकती फिर रही थीं—और जब कोई अकेला-दुकेला झोंका बच कर इधर-उधर पनाह लेने लगता तो ऐसा महसूस होता जैसे किसी ने बर्फ़ की डली लेकर सारे बदन पर फेर दी है। सामने—फूलों की क्यारियों पर भी बर्फ़ जमी हुई थी। और धीरे-धीरे उभरते हुये सूरज की लाल-लाल रौशनी में पौदों के सिरे अंगारों की तरह-दहक रहे थे।

मुझे एक बुरा-सा खयाल आया और नज़रें बचा कर जल्दी से अन्दर चली आई।

रूबीना उसी तरह सो रही थी आराम की नींद,

"खट, खट, खट," संगमरमर के चिकने बरामदे में ऊँचा एड़ी के जूते की उदास-सी आवाज़ सुन कर मैंने रूबीना की रज़ाई उलट दी। नर्स टेम्प्रेचर लेने आ रही थी।

लेकिन ओह! रज़ाई का कोना मेरे हाथ से छूट गया। रूबीना की बड़ी-बड़ी आँखें, चू जाने की हद तक खुली हुई थीं और थिरकती हुई पुतलियाँ, ऊपर की तरफ़ सरक गई थीं। मुझे सक्ता-सा हो गया। नर्स टेम्प्रेचर लेने के लिये झुकी तो भी मैं एक क़दम परे खड़ी देखती ही रही और जब वह उठी तो—"

"ख़त्म हो चुकी ग़रीब—हाय—" उसने मेरी बदहवासी को समझते हमदर्दी से कहा।

मैंने उसे कोई जवाब नहीं दिया, क्या देती? और मरे-मरे क़दम उठाती हुई चचा जान को टेलीफ़ोन करने के लिये बाहर निकल आई।

पौदों पर से बर्फ़ धीरे-धीरे भाप बन कर आसमान की तरफ़ उड़ रही थी, और फूलों के नीचे, नुकीले काँटे किसी माली की राह देखने के लिये झाँक रहे थे—!

एक बार 'जिगर' मुरादाबादी के बुलाने पर पं० आनन्द नरायन 'मुल्ला' एक मुशाएरे की शिरकत के लिए मुरादाबाद गये। 'जिगर' ने मुशाएरों की गलेबाज़ी और 'मुल्ला' के दिलख़राश तरन्नुम का लिहाज़ करते हुए बड़े ख़ुलूस से उनसे कहा, "मुल्ला साहब! आज तो अपनी ग़ज़ल पढ़ने की इजाज़त मुझे ही दीजिए।"

'मुल्ला' ने बड़ी सख़्ती से रोका, "जी नहीं! जो लोग मेरा शेर सुनना चाहते हैं, उन्हें मेरा तरन्नुम भी बहरहाल बरदाश्त करना होगा!"

● ज़बानदाँ

आँख झपकना—(१) झेंपना, किसी के आगे अपने को कम समझना :

तारे आँखें झपक रहे थे
था बाम प कौन जल्वगर रात —मीर हसन

(२) ज़रा-सा सो लेना :

ता सुब्हे-शबे-हिज्र झपकती आँखें
कट जाती हैं रातें दरो-दीवार को तकते —'रिन्द'

आँख झपका देना—हरा देना शर्मिन्दा करना,

तुम्हारे देखने वालों की आँख झपका दे
ये बर्क़े-तूर प भी हमको एहतेमाल[1] नहीं,

आँख चुरा कर देखना—(१) कनखियों से देखना, ऐसे देखना कि दूसरों को पता न चले

सब करते हैं चश्मक[2] मुझे होती है निदामत[3]
यूँ आँख चुरा कर मुझे देखा न करो तुम —'रिन्द'

(२) झेंपना, शरमाना :

जा-बजा[4] से बदन छुपाए हुए
आँख शहज़ादे से चुराए हुए —'क़लक़'

सामने मेरे जो चुराते हो आँख
आइना क्या आज नया हो गया —'दाग़'

आँख दिखाना—(१) रुखाई और बे-मुरव्वती से पेश आना :

पहले करते थे दिल-रूबाई क्या-क्या
दिखलाते थे रब्ते-आशनाई क्या-क्या
जब ले चुके दिल को तुम तो दिखलाई आँख
जिस आँख ने कैफ़ियत सुझाई क्या-क्या —'जुर्अत'

(२) गुस्सा होना, नाराज़ होना।

तुम्हीं आँखों को आँख दिखला दो
दिले-बेताब को भी धमका दो —'क़लक़'

आँखें दिखलाते हो जोबन तो दिखाओ साहब
वो अलग बाँध के रक्खा है जो माल अच्छा है —दाग़

१—शक, संदेह। २—ताने देना, ३—लज्जा आना, ४—जगह-जगह।

धारावाहिक उपन्यास | ६ | शौकत सिद्दीक़ी

[पूर्व कथा——राजा एक कोढ़ी की गाड़ी खींचता था, शामी अपने जल्लाद बाप की मार-डाँट सहता हुआ दूकान पर बैठता और नौशा अपनी बेवा माँ और बहन-भाई के लिए अब्दुल्ला मिस्तरी के कारख़ाने में नौकरी करता—इन उठते हुए नौजवानों के घर और ख़ानदान तो अलग थे लेकिन परवरिश एक-ही तरह से कूँचों और गलियों में हो रही थी, जहाँ उनके क़दम बड़ी मासूमियत से ग़लत राह की तरफ़ बढ़ रहे थे। नौशा कारख़ाने से समान चुरा कर लाता और नयाज़ के हाथ, जो उसका रिश्तेदार था और कबाड़िये का काम करता था, कौड़ी के भाव बेच डालता। नयाज़ सौदा तो उसकी बहन सुलताना का करना चाहता था लेकिन मजबूरी में हर सौदे के लिए तैय्यार था, लेकिन उसकी यह ख़्वाहिश पूरी होने की उम्मीद कम ही थी क्योंकि अब नौशा के यहाँ कालेज के एक नौजवान, सलमान ने भी आना-जाना शुरू कर दिया था, और सुल्ताना भी उसमें दिलचस्पी लेने लगी थी......]

एक हफ़्ता बाद—

सलमान अपने कमरे में पड़ा गहरी नींद सो रहा था। दरवाज़े पर आहट हुई, तो उसकी आँख खुल गई। कोई आहिस्ता-आहिस्ता दरवाज़ा खटखटा रहा था। उसने उठ कर दरवाज़ा खोला। दिन ढल चुका था। धूप मकानों की ऊँची मुंडेरों को चूम रही थी। साये (परछाइयाँ) झुक गये थे। और उन झुके हुये सायों में चाय खाने का मालिक रौशन ख़ाँ खड़ा था। सलमान उसको देखते ही घबरा गया।

रौशन ख़ाँ ने उसे देखते ही कहा, "आप की तरफ़ पिछले महीने के बिल के २२ रुपये निकलते हैं। आज उसका हिसाब बेबाक़ कर दीजिए।"

उसके तेवर देख कर सलमान को अन्दाज़ा हो गया कि आज वह यह तै करके आया है कि रुपये लिये बग़ैर वापस नहीं जायेगा। और उसकी हालत यह थी कि पास खोटा पैसा न था। रात वह जुए में सब कुछ हार आया था और सुब्ह से भूका-प्यासा पड़ा था। सलमान ने फ़ौरन उसके मक्खन लगाया। कहने लगा,

"ख़ाँ साहब क्या किसी से लड़ कर आ रहे हो ?"

वह बोला, "नहीं साब ! हम दूकानदार आदमी किसी से झगड़ा कर सकते हैं।"

"तो फिर तबीअत खराब होगी। देख कर तो यही पता लगता है।"

वह कहने लगा, "गर्मी के दिन हैं जी, तबीअत कुछ गड़बड़ ही रहती है।"

उसके तेवर कुछ मद्धिम पड़ गये थे

और वह एक झुंझलाये हुये महाजन के बजाय एक आम आदमी नज़र आने लगा था। सलमान उसको इसी आलम में देखना चाहता था। लापरवाई से बोला, "ख़ाँ साहब घर से मेरा अभी खर्च नहीं आया है। कल-परसों तक मनीआर्डर आ जायेगा तो फ़ौरन हिसाब साफ़ हो जायेगा। यही बात वह दो हफ़्ते पहले भी उससे कह चुका था और परसों रात को चाय पीते हुये भी वह यही बात कह आया था।

रौशन एकदम बिफर गया, "नहीं साहब ! इस तरह काम नहीं चलेगा। मैं मनीआर्डर का चक्कर नहीं जानता। आज तो आप हिसाब साफ़ कर ही दीजिये।"

सलमान ने बड़ी मुश्किल से उसको राज़ी किया और दो दिन की मुहलत ली।

जब वह बला (रौशन ख़ाँ) किसी तरह उसके सर से टली तो वह थका हुआ-सा आकर कुर्सी पर बैठ गया। खाली पेट में चूहे फ़्री स्टाइल कुश्ती लड़ रहे थे। कमज़ोरी बढ़ गई थी। उसने फ़र्श पर पड़ी हुई एक अधजली सिग्रेट उठा कर सुलगाई। कश लगाते ही कलेजा सुलगने लगा। उसने सिग्रेट को उठा कर फेंक दिया और गुस्से से उसको फ़र्श पर मसल डाला।

कुछ देर वह चुपचाप बैठा सोचता रहा कि अब क्या किया जाय। रौशन ख़ाँ के चायखाने में जाकर वह चाय के साथ कुछ खा-पी भी सकता था। मगर वह इतना बदतमीज़ आदमी था कि सबके सामने तक़ाज़ा कर देता था। यह बेग़ैरती भी वह बरदाश्त

कर लेता मगर कब तक। सोचते-सोचते उसकी नज़र मेज़ पर रक्खे हुये थरमास पर पहुँच गई। पिछले साल वह उसको घर से लाया था। माँ ने यह सोच कर कि सफ़र में उसको तकलीफ़ न हो, बर्फ़ भरवा के यह थरमास उसके साथ कर दिया था। वह नींद भरी नज़रों से बैठा उसे देखता रहा। फिर उसने उठ कर कपड़े बदले और थरमास को अख़बार में लपेट कर नयाज़ की दूकान की तरफ़ चल दिया।

नयाज दूकान पर मौजूद था। थरमास बिल्कुल नया था लेकिन बड़ी मुश्किल से उसने २० रुपये दिये। सलमान ने रुपये जेब में डाले और दूकान से बाहर आ गया।

जब सलमान दूकान से बाहर निकल रहा था, उसी वक़्त नौशा भी पहुँच गया। उसने सलमान को देखा तो ठिठक कर रह गया। सलमान की उस पर नज़र न पड़ी। नौशा चाहता भी यही था। जैसे ही वह आगे बढ़ा नौशा झट से अन्दर दाखिल हो गया।

उस दिन नौशा खाली हाथ आया था और इस इरादे से आया था कि नयाज़ से एक रुपया उधार मिल जाय तो अच्छा है। उसने राजा और रानी के साथ सनीमा देखने का प्रोग्राम बनाया था मगर नयाज़ ने साफ़ इन्कार कर दिया। कहने लगा,

"जब कुछ लेकर आओगे तब ही पैसे मिलेंगे।"

नौशा ने ख़ुशामद करने के अन्दाज़ में कहा, "कल मैं ज़रूर कुछ न कुछ ले कर आऊँगा, बस आज एक रुपया दे दो।"

वह बिगड़ कर बोला, "बस एक बार कह दिया। ख़ाहमख़ाह जान न खाओ।"

नौशा ज़रा देर ख़ामोश बैठा रहा और फिर चुपचाप उठ कर चल दिया। लेकिन वह दरवाज़े ही तक गया था कि पीछे से नयाज़ की आवाज़ उभरी, "अबे अब चला ही जायेगा।" नौशा ने पलट कर उसकी तरफ़ देखा। नयाज़ उसकी तरफ़ देख कर बेतकल्लुफ़ी से मुस्कुरा रहा था। उसने हाथ के इशारे से उसको क़रीब बुलाया तो नौशा पालतू कुत्ते की तरह आहिस्ता-आहिस्ता चलता हुआ उसके पास चला गया। नयाज़ चेहरे पर बनावटी नाख़ुशी पैदा करके कहने लगा,

"सनीमा के लिये रुपये चाहिये न?"

नौशा इन्कार न कर सका। उसने गर्दन हिला दी। "हाँ!"

नयाज़ ने एक रुपया जेब से निकाल कर उसके सामने फेंक दिया, "साले-सनीमा की चाट तुझको तबाह कर देगी।"

नौशा ने चुपचाप रुपया उठा लिया। नयाज़ कहने लगा, "देख कल कुछ न कुछ लेके ज़रूर आना वरना आइन्दा एक पैसा न दूँगा।"

नौशा दूसरे दिन आने का वादा कर के बाहर चला गया। शाम हो गई थी हर तरफ़ चराग़ों की रौशनी

झिलमिला रही थी। नौशा वहाँ से सीधा गली के अन्दर पहुँचा म्यूनिस्पैलिटी की लालटेन जल चुकी थी मगर वहाँ राजा मौजूद नहीं था। क़रीब ही एक मकान के चबूतरे पर शामी अकेला बैठा था। उसकी क़मीज़ का गला फटा हुआ था। होंट से खून निकल रहा था, जिसको वह बार-बार आस्तीन से पोंछ रहा था। आस्तीन पर जगह-जगह खून के धब्बे लग गये थे। नौशा को आते देख कर उसने डिबडिबाई आँखों से उसकी तरफ़ देखा और ख़ामोशी के साथ आस्तीन से होंट से रिस्ता हुआ खून पोंछने लगा। नौशा ने उसके पास जाकर फ़ौरन पूछा।

"अबे क्या हो गया। अब्बा ने मारा है?"

उसने इन्कार में गर्दन हिला दी। "नहीं!"

नौशा ने जल्दी से कहा, "फिर क्या बात हुई?"

शामी ने मुँह से कुछ न कहा। उसकी आँखों से आँसू फूट पड़े। वह सिस्कियाँ भर कर रोने लगा। नौशा घबरा गया। डाँट कर बोला, "अबे कुछ बता तो कि हुआ क्या?"

शामी भर्राई हुई आवाज़ से बोला, "उस साले डाक्टर मोटू के लड़के और नौकर ने मारा है।" इतना कह कर वह और फूट-फूट कर रोने लगा। नौशा ने कहा,

"अच्छा तो यह बात है। राजा कहाँ है?"

शामी बोला, "वह अभी तक नहीं आया।"

नौशा ने कहा, "चल उसको साथ लेते हैं और फिर उन सालों से पूछते हैं। उनकी तो ऐसी की तैसी। सालों ने समझा क्या है जी!" नौशा बहुत जोश में था। शामी का सारा दुख उड़न-छू हो गया। उसने आँसू पोंछे और अकड़ कर बोला,

"वह साले दो थे, मैं अकेला पड़ गया। फिर उनके पास स्टिकें भी थीं।"

"अच्छा!" नौशा ने गर्दन हिला कर कहा, "मगर बात क्या हुई?"

वह बोला, "अमाँ कोई बात नहीं थी। साला मेरे साथ गुल्ली डंडा खेल रहा था। बहुत देर तक पदाता रहा। जब मेरी बारी आई तो कहने लगा कि दाँव नहीं दूँगा! मैंने कहा मैं तो अभी दाँव लूँगा। साले ने छुटते ही मेरे मुँह पर मुक्का मारा। फिर तो मुझे भी ताव आ गया। उठा के दे मारा। साला उस वक़्त तो रोता हुआ चला गया। अब शाम को नौकरों को लेकर आया था।" वह अभी झगड़े के बारे में और कुछ बताता लेकिन इतनी ही बात सुनते ही नौशा के तनबदन में आग लग गई। कहने लगा,

"छोड़ यार बातों को, आ राजा के पास चलें।"

शामी झट से चबूतरे पर से उतर आया। दोनों राजा की खोली की तरफ़ चल दिये।

राजा आज दरवाज़े पर मुँह लटकाये गुम-सुम बैठा था। खोली के अन्दर अन्धेरा था और उस अन्धेरे में राजा साये की तरह धुँधला-धुँधला दिखाई दे रहा था। दोनों ने उसे इस आलम में देखा तो कुछ तअज्जुब हुआ। नौशा समझा कि राजा भी कहीं से लड़-झगड़ कर आया है। उसके क़रीब जा कर पूछा,

"अबे यह रोनी सूरत क्यों बनाये बैठा है ?"

राजा ने कोई जवाब न दिया। उसी तरह मुँह लटकाये बैठा रहा। नौशा ने जेब से रुपया निकाल कर टन से बजाया और हँस कर बोला, "बोल, क्या कहता है ?"

इस दफ़ा राजा चिढ़ कर बोला, "यार परीशान न कर। अपना यूँही डिब्बा गुल हो गया।"

शामी जो अब तक चुप था, झट से बोला, "उस्ताद से झगड़ा हो गया ?"

"नहीं यार उस्ताद बेचारे को तो पुलिस वाले पकड़ ले गये।"

राजा की यह बात सुन कर दोनों परीशान हो गये। इसरार करके पूछा तो मालूम हुआ कि बूढ़े भिकारी को भीक माँगने के जुर्म में पुलिस ने जेल भेज दिया। राजा ने यह बात बड़े दुख के साथ बताई। इस लिये कि उसकी आमदनी का ज़रीआ अचानक बन्द हो गया था। दरवाज़े के क़रीब ही लकड़ी की वह भद्दी-सी गाड़ी रक्खी थी, जिसमें राजा बूढ़े भिकारी को डाल कर रोज़ाना फेरी पर जाता था।

दोनों जिस इरादे से आये थे, राजा की परीशानी देख कर वह बात ही नहीं छेड़ी। वह इस वक़्त सचमुच बहुत उदास हो रहा था। नौशा ने सनीमा जाने का प्रोग्राम भी बदल दिया। तीनों ने जाकर होटल में चाय पी और देर तक इस मस्अले (समस्या) पर ग़ौर करते रहे कि अब राजा को क्या काम करना चाहिये।

रात गये जब उनकी महफ़िल ख़त्म हुई, तो नौशा ने वादा किया कि वह कोशिश करेगा कि जिस कारख़ाने में वह काम करता है, वहीं राजा भी लग जाये। मगर नौशा की कोई कोशिश काम न आई और राजा कई-कई वक़्त के फ़ाक़े करने लगा। उसने भीक माँगना शुरू किया तो एक रोज़ पुलिस के हत्थे चढ़ गया। उन्होंने दूसरे भिकारियों के साथ उसको भी मवेशियों की तरह हाँक कर पुलिस की लारी में बन्द कर दिया। यहाँ राजा की शरारतें काम आ गईं। जब सब भिकारियों को थाने के हाते में लारी से उतारा गया तो राजा लारी के नीचे दबक गया और मौक़ा लगते ही हाते की दीवार फाँद कर ऐसा रफ़ू-चक्कर हुआ कि पुलिस वाले देखते के देखते ही रह गये।

कई दिन तक वह अपनी तंग और अन्धेरी खोली में पुलिस के डर से छिपा रहा। नौशा और शामी आ जाते तो पेट का सहारा हो जाता।

इधर

शामी उन दिनों देर में आता था। वह आने के साथ ही पाजामे में दबी हुई रोटियाँ निकालता और राजा के सामने रख देता। यह रोटियाँ वह घर से चुरा कर लाता था। नौशा को नयाज़ से रक़म मिल जाती, तो वह होटल से सालन मँगवा देता वरना राजा को रूखी-रोटी पर गुज़ारा करना पड़ता। पुलिस से वह इतना डरा हुआ था कि अगर कभी-कभार हिम्मत करके गली में आ जाता और कहीं पुलिस वाले की झलक भी नज़र आ जाती तो सर-पर पैर रख कर भागता था।

इन दिनों नौशा रोज़ाना कारख़ाने से कोई पुरज़ा या औज़ार उड़ा लेता और सीधा नयाज़ के पास पहुँचता। मगर रोज़-रोज़ चोरी से कारखाने में खलबली पड़ गई। अब्दुल्ला मिस्तिरी चीख-चीख कर गालियाँ देता। फाटक पर हर कारीगर की तलाशी ली जाने लगी मगर नौशा अपने काम में ऐसा मंझ गया था कि वह चौकीदार की आँख में धूल झोंक कर साफ़ निकल जाता।

एक बार ऐसा हुआ कि उसके हत्थे कोई पुरज़ा या औज़ार न चढ़ा। उसने पीतल का कुछ तार उठा कर एक पुरानी मोटर की सीट के नीचे छिपा दिया। कारखाने में छुट्टी होने से कुछ देर पहले उसने कारीगरों की नज़रें बचा कर तार को कमीज़ के अन्दर छिपाया और पेशाबखाने में घुस गया। दरवाज़ा बन्द किया और पाजामा उतार कर रान पर बाँध कर बाहर आ गया। सेर सवा सेर का वज़न था। चलने में क़दम ठीक न पड़ते थे। वह लंगड़ाता हुआ फाटक से गुज़रा तो पठान चौकीदार ने उसको शक भरी नज़रों से देख कर टोका।

तुम्हारा टाँग में क्या हो गया। खौ तुम कैसा चलता ए।"

नौशा ने ज़बरदस्ती चेहरे पर तकलीफ़ की कैफ़ियत पैदा करके फ़ौरन कहा, "साला एक राड आकर रान पर गिर गया। बड़ा दर्द हो रहा है।" यह कहता हुआ वह फाटक से बाहर चला गया।

घबराहट में उसने जल्दी चलने की कोशिश की तो लड़खड़ा कर फाटक के सामने गिर पड़ा। पीतल के तार का लच्छा एकदम से पाजामा के अन्दर से निकल कर बाहर आ गया। चौकीदार की नज़र पड़ गई। वह लपक कर उसके पास पहुंच गया और आंखें निकाल कर बोला,

"चोरी करता है तुम। कहता है टाँग में दर्द ए।"

उसने फ़ौरन हाथ बढ़ा कर नौशा की गर्दन अपने चौड़े चकले हाथ में दबा ली और चीख कर बोला, "चलो सेठ के पास।" नौशा गिड़-गिड़ाने लगा मगर सवात के रहने वाले उस छः फ़िटे पठान पर कोई असर न हुआ।

नौशा को अब्दुल्लाह मिस्तिरी के सामने पेश किया गया। चौकीदार ने तार का लच्छा मेज़ पर रख दिया।

मिस्तिरी ने उसको उठा कर देखा फिर नौशा को देखा और उसकी आँखें उबल कर सुर्ख़ पड़ गईं। चीख कर बोला,

"क्यों बे हरामी!"

मारे ग़ुस्से के अब्दुल्लाह ने हाथ दबे हुये रजिस्टर को नौशा के मुँह पर दे मारा। उसके बाद उसने ख़ुद अपने हाँथ से दीवार में एक मज़बूत-सी लोहे की कील गाड़ी और नौशा के दोनों हाथों की उंगलियाँ आपस में फँसा कर उसको क़ील पर लटका दिया। फिर उसने दो कीलें और मंगवाई और ठीक नौशा के तलुवों के नीचे ज़मीन में इस तरह गाड़ी कि उनके नुकीले सर ऊपर निकले हुये थे। जब वह इस काम से फ़ुर्सत पा गया तो डाँट कर कहा,

"देख बे हाथ छोड़े तो समझ लेना साले दोनों कीलें अन्दर उतर जायेंगी।

नौशा की तकलीफ़ से उंगलियाँ टूटी जा रही थीं। ऐसा महसूस हो रहा था कि एक उंगली की हड्डी को तोड़ कर अन्दर घुस जायगी। वह दर्द से बिलबिला कर रोने लगा,

"मिस्तिरी जी अब कभी चोरी न करूँगा। अल्लाह के लिये छोड़ दो।"

"मिस्तिरी जी, मिस्तिरी जी!" नौशा तकलीफ़ से बिलकता रहा, चीखता रहा, ख़ुदा और रसूल की दुहाई देता रहा। मगर मिस्तिरी इत्मीनान से बैठा सिग्रेट पीता रहा। जब नौशा ज़्यादा शोर करता तो गरज कर कहता,

"अबे अभी से रोना धोना शुरू करे दिया। साले रात भर इसी तरह लटकाऊँगा। तूने मुझे समझा क्या है।"

नौशा और ज़ोर से चीखता, मिस्तिरी उतने ही इत्मीनान के साथ सिग्रेट पर कश लगाता। मुस्कुरा कर उसको देखता और कहता, "चोरी करो बेटा और चोरी करो।" नौशा उसके लहज़े में नर्मी देख कर ख़ुशामदें करने लगता। फ़ौरन ही मिस्तिरी ग़ुस्से से उसको डाँटता। कई मिनट तक यह सिलसिला चलता रहा।

एकाएकी नौशा बड़े ज़ोर से चीखा, "मिस्तिरी जी अल्लाह के लिये, छोड़ दो। मेरे हाथ छूटे जा रहे हैं।

उसकी टाँगें लोहे की स्प्रिंग की तरह ज़ोर-ज़ोर से काँप रही थीं। अब्दुल्लाह ने मुड़ कर उसकी तरफ़ देखा। ऊपर से ख़ून का एक क़तरा ज़मीन पर गिरा, फिर दूसरा, तीसरा। टप-टप ख़ून की बूंदें नीचे गिर रही थीं। उंगलियों की खाल छुट कर हथेलियाँ लहूलहान हो गई थीं। नौशा कब का हाथ छोड़ चुका होता मगर अब्दुला ने इस तरह उंगलियाँ फँसा कर उसको लटकाया था कि उंगलियाँ खुल न सकती थीं। ख़ून देख कर लम्हा भर के लिये अब्दुल्लाह का चेहरा फ़िक्रमन्द नज़र आया। उसके बाद उसकी त्योरी पर बल पड़ गया। ज़रा देर वह ख़ामोश बैठा रहा।

नौशा ज़िबह होने वाले बकरे की तरह चीखता रहा।

आखिर अब्दुल्लाह ने उठ कर उसे नीचे उतारा। नौशा की उंगलियाँ अभी तक आपस में जकड़ी हुई थीं। उनसे खून बह रहा था और सारा जिस्म काँप रहा था—वहीं खड़े-खड़े पाजामे में उसने पेशाब कर दिया। अब्दुल्लाह ने उसके दोनों हाथ पकड़ कर खींचे। नौशा तकलीफ़ से चीखा। उंगलियाँ एक दूसरे से अलाहदा हो गईं। खून तेज़ी से बहने लगा। अब्दुल्लाह ने मुंशी जी को बुलाया। वह आया तो उसका चेहरा भी सहमा हुआ था। अब्दुल्लाह ने उससे कहा कि वह नौशा के हाथ धुला दे।

मुँशी नौशा को अपने साथ ले गया। ज़रा देर बाद वह उसको लेकर अब्दुल्लाह के सामने आया। उसने घूर कर उसको देखा। २० रुपये जेब से निकाल कर नौशा के सामने फ़ेंके। "लो साले यह कफ़न के लिये भी लेते जाओ मगर अब कभी यहाँ शक्ल न दिखाना। जा दूर हो मेरे सामने से।" उसने एक साँस में कई गालियाँ दे डालीं। नौशा ने काँपते हुए हाथों से रूपये उठाये और सिस्कियाँ भरता हुआ कारखाने से बाहर चला गया।

जब वह घर पहुँचा तो उसकी उँगलियाँ सूज गई थीं और हाथों की भी वैसी ही हालत हो गई थी। माँ से उस ने बहाना कर दिया कि एक पुरजा उस से टूट गया था जिस पर अब्दुल्लाह मिस्तिरी ने उसको मार कर कारखाने से बाहर निकाल दिया। बीस रुपये नौशा ने माँ को दे दिये। माँ बेचारी अब्दुल्लाह मिस्तिरी को कोसने दे कर रह गई। कारखाने ही से उसको बुखार हो गया था और अब तो उसका बदन फुंक रहा था। माँ ने ज़र्राह की दूकान से मरहम मंगवा कर उसकी उँगलियों पर लगाया और उन पर पट्टियाँ बाँध दीं। नौशा खामोश लेटा तकलीफ़ से कराहता रहा। रात को नयाज़ आया तो माँ ने उसको पूरा वाक़या सुनाया मगर नयाज ने अब्दुल्लाह मिस्तिरी को बुरा-भला कहने के बजाये नौशा ही के सर पर इल्ज़ाम रक्खा। कहने लगा,

"यह आवारा लड़कों की सोहबत में रह कर हरामखोर हो गया है। काम में उसका दिल ही कब लगता है। कोई क़ीमती पुरज़ा तोड़ डाला होगा जब ही अब्दुल्लाह को इस क़दर ग़ुस्सा आगया वैसे वह इतना बुरा आदमी नहीं।"

नौशा खामोश पड़ा उसकी बातें सुनता रहा और दिल ही दिल में कुढ़ता रहा। कई रोज़ तक वह इस तकलीफ़ में पड़ा रहा। नयाज हर रोज उसके खिलाफ़ कुछ न कुछ ज़रूर कहता।

कई दिन बाद उसके हाथ की पट्टियाँ खुलीं। उसी दिन वह घर से बाहर भी गया—सीधा राजा के पास पहुंचा। वह रोज़-रोज़ के फ़ाक़ों से

क़साई के खूँटे पर बंधी हुई गाय की तरह मरयल नज़र आ रहा था। नौशा के बारे में सारी बातें वह अन्नू से पहले ही सुन चुका था। ज़रा देर तक वह खोली के अन्दर बैठे बातें करते रहे उसके बाद वह बाहर निकल आये। शामी के बाप की दूकान पर गये तो वह मौजूद न था। दोनों की जेबें ख़ाली थीं, इसलिये उन्हों ने यह प्रोग्राम बनाया कि पीपल घाट चलें। उनका ख़याल था कि नदी के उस पार से कश्तियों में माल आता है, उसको चल कर उतारेंगे तो थोड़े बहुत पैसे मिल जायेंगे। मगर जब वह पाँच मील पैदल चल कर वहाँ पहुँचे तो मालूम हुआ कि घाट की मरम्मत हो रही है। कश्तियाँ उन दिनों किसी और घाट पर सामान उतार रही थीं। दोनों थक कर चूर हो रहे थे वहीं घाट की सीढ़ियों पर बैठ गये।

घाट से थोड़ी दूर पर सरकिन्डों के झुंड थे, जिन पर दरयाई परिन्दे मंडला रहे थे। शिकारियों की एक टोली वहाँ पहले ही मौजूद थी। दोनों उनके साथ शामिल हो गये। धायँ-धायँ करके बन्दूक़े चलतीं, कोई परिन्दा ज़ख्मी हो कर गिरता और वह दोनों कीचड़ और पानी में घुस कर उसको निकाल लाते। बड़ा दिलचस्प खेल था। शिकारियों ने उनको खाने के लिये भुना हुआ गोश्त और डबल रोटी के टुकड़े दिये। तीसरे पहर को चाय पिलाई। सिग्रेट भी पीने को मिली। शाम तक दोनों शिकारियों के साथ हा वह करते रहे।

नौशा जब घर पहुँचा तो रात का अँधेरा फैल चुका था। माँ इन दिनों उससे यूँही नाख़ुश-सी थी। वह दिन भर जो ग़ायब रहा तो वह और भी जली-भुनी बैठी थी। घर में दाख़िल होते ही उसने कहा,

"अब इस वक़्त भी क्यों वापस आया। जा जहाँ दिन भर रहा वहीं जा।"

नौशा ने कोई जवाब नहीं दिया। माँ देर तक उसे कोस्ती रही। थोड़ी देर बाद खाना आया तो माँ ने उसको खाना देने से इन्कार कर दिया। सुल्ताना ने सिफ़ारिश की तो उसपर भी बरसने लगी तीनों ने उसके सामने बैठ कर खाना खाया। माँ चुम्कार-चुम्कार कर अन्नू को खाना खिला रही थी मगर एक बार भी उसने नौशा से न पूछा। वह चुप-चाप बैठा यही इन्तिज़ार करता रहा कि माँ ज़रूर उसको खाने पर बुलायेगी। मगर जब सब लोग खाना खा चुके और बर्तन उठा दिये गये तो वह तिलमिला कर रह गया। उस वक़्त उसको सख्त भूक लग रही थी। ग़ुस्से और दुख से उसका दिल भर आया। वह कमरे के अन्दर जाकर अन्धेरे मैं में बैठ गया और देर तक चुपके-चुपके रोता रहा। आखिर वह झुँझला कर कमरे से निकला और बाहर जाने के लिये दरवाज़े की तरफ़ चल दिया। माँ ने टोक कर कहा,

"फिर चला बाहर ?"

नौशा ने इस दफ़ा भी जवाब न दिया तो वह चीख कर बोली, "एक बाप का जना हो तो अब वापस न आना।"

वह बोला, "हाँ नहीं आऊँगा" यह कहते-कहते उसकी आवाज़ भर्रा गई। और वह तेज़ी से बाहर आ गया। गली में आकर उसने आँसू पोंछे और राजा के पास चला गया। वह भी भूक से निढाल पड़ा था। नौशा ने सारी बातें उसको बता दीं। राजा ने खामोशी से सब कुछ सुना। ज़रा देर खामोश रहा। फिर बड़ी मद्धिम आवाज़ में बोला,

"यार मेरा तो दिल चाहता है इस शहर को छोड़ दें।"

"मगर जायेंगे कहाँ ?"

राजा ने कहा, "मेरा तो इरादा कराची जाने का है। जहाँ फ़ौरन काम मिल जाता है।"

नौशा भी तैय्यार हो गया, 'मैं भी तेरे साथ चलूँगा।"

"तो फिर मिला पुलाव का हाथ !"

दोनों ने गर्म-जोशी से एक दूसरे का हाथ थाम लिया। इसी दरम्यान में शामी भी वहाँ आ गया। दोनों ने उसको अपना प्रोग्राम बताया तो वह भी किसी हद तक तैय्यार हो गया। बात यह थी कि ज़रा देर पहले उसके बाप ने डाक्टर की शिकायत पर उनके लड़के के सामने उसको बुरी तरह पीटा था। वह घर पर उसको मार लेता तो शामी को इतना दुख न होता मगर डाक्टर के लड़के से चूंकि उसका झगड़ा चल रहा था, इसलिये उसकी बड़ी बेइज़्ज़ती हुई थी।

अब सवाल यह था कि रेल के सफ़र के लिए रक़म कहाँ से आये। यह मुश्किल शामी ने हल कर दी। उसके पास अखबारों के रुपये रक्खे थे। वह घर से जाकर सारे रुपये चुपके से निकाल लाया। रात के साढ़े दस बजे एक गाड़ी कराची के लिये रवाना थी। उन्होंने उसके टिकट खरीदे और ट्रेन में सवार हो कर उसी रोज़ कराची रवाना हो गये।

लेकिन उन्हों ने रेल का सफ़र शुरू ही किया था कि शामी ने रोना शुरू कर दिया, उसको घर याद आ रहा था। राजा ने उसको समझाने की कोशिश की तो वह और भी ज़्यादा सिस्कियाँ भरने लगा। ट्रेन के दूसरे मुसाफ़िर उनको देखने लगे। राजा ने घबरा कर नौशा से कहा,

"यार यह साला तो दोनों को पकड़ा देगा।"

नौशा बोला, "हाँ यार सब लोग हमारी तरफ़ देख रहे हैं।"

आखिर दोनों ने यह तै किया कि अगले स्टेशन पर उतर पड़ें और शामी को समझायें कि वह रोना-पीटना बन्द कर दे। सो उन्होंने यही किया। ट्रेन एक छोटे से स्टेशन पर रुकी। वहाँ तीनों उतर गये। गर्मी के दिन थे। प्लेट-फ़ार्म ही पर तीनों एक जगह जाकर ठहर गये। शामी अब तक मुँह बिसोर रहा था। राजा जला तो

था ही। उसने झुँझला कर उसको कई गालियाँ दे डालीं। अलबत्ता नौशा खामोश रहा इसलिये कि शामी को रोता देख कर उसको भी घर की याद सताने लगी थी।

राजा की डाँट-डपट से शामी ने रोना बन्द कर दिया था। तीनों ने तै किया कि सुब्ह तड़के जो ट्रेन आती है उससे सफ़र करेंगे। उसके बाद तीनों वहीं फ़र्श पर सो गये। देर तक जागते रहे थे इस लिये तीनों गहरी नींद सो गये।

पहले राजा की आँख खुली। उसने देखा धूप निकल आई थी। एक कुत्ता खड़ा उसका मुँह चाट रहा था। वह घबरा कर उठ बैठा। कुत्ता तो दुम दबा कर भागा मगर राजा को यह देख कर बड़ी हैरानी हुई कि नौशा तो उसके बराबर सो रहा था मगर शामी का कहीं पता न था। उसने नौशा को जगाया। दोनों देर तक उसका इन्तिज़ार करते रहे कि शायद कहीं इधर-उधर चला गया हो तो आजाये मगर वह रात के पिछले पहर आने वाली ट्रेन से वापस चला गया। दोनों को बताया भी नहीं। गाड़ी के आते ही वह चुपके से उठ कर उसमें सवार हो गया। उन दोनों को सुब्ह वाली ट्रेन भी छूट गई।

दिन भर वह प्लेटफ़ार्म पर घूमते रहे। दोपहर को ट्रेन आई तो उसमें बैठ कर कराची रवाना हो गये। जब वह वहाँ पहुँचे तो एक पहर रात गुज़र चुकी थी। दोनों के पास एक पैसा भी न था। सारी रक़म शामी के पास थी, जिसको वह अपने साथ ले गया था। सफ़र के थके-हारे और दिन-भर की भूक से निढाल वह मुसाफ़िरखाने में जाकर एक कोने में पड़ गये।

रात आहिस्ता - आहिस्ता गुज़रती गई। सन्नाटा बढ़ता गया। मुसाफ़िर खाने में जो एक्का-दुक्का मुसाफ़िर रह गये थे, वह टाँगें पसार कर सो गये थे या पड़े ऊँघ रहे थे मगर राजा और नौशा को भूक के मारे नींद नहीं आ रही थी। रात गये मुसाफ़िर खाने के अन्दर एक आदमी आया। वह दुबला-पतला मरयल-सा आदमी था। आँखों में बला की चमक थी, जिनसे वह एक खोजने वाले अन्दाज़ में देख रहा था। उसने मुसाफ़िरख़ाने में एक चक्कर लगाया। अचानक उसकी नज़र उन दोनों पर पड़ गई। वह उनके क़रीब आकर बैठ गया और बैठने के साथ ही बोला,

"घर से भाग कर आये हो?"

नौशा तो डर कर सहम गया अलबत्ता राजा ने कुछ बेझिजक हो कर कहा, "नहीं जी हम तो अपने मामूँ से मिलने आये हैं।"

वह आदमी एक आँख दबा कर बद-मआशी से मुस्कुराया, "झूट बोलोगे तो सीधे हवालात में होगे। साफ़-साफ़ बात बताओ।" यह कह कर उसने सिग्रेट का पैकेट निकाला और उनसे कहने लगा, "लो पहले सिग्रेट पियो।" राजा ने झिजकते हुये एक

डगर

सिग्रेट ले ही ली इसलिये कि उसने सुब्ह से सिग्रेट नहीं पी थी।

उस आदमी ने राजा की सिग्रेट सुलगाई और बेतकल्लुफ़ी से बोला, "मुझसे डरने की कोई बात नहीं। तुमको कुछ फ़ायदा ही पहुँच जायेगा। वैसे यह कराची साला बहुत खराब शहर है। एक से एक नम्बरी यहाँ पड़ा है।" दोनों चुपचाप उसकी बातें सुनते रहे। वह कहने लगा।

"किसी ऐसे वैसे के चक्कर में पड़ जाओगे तो समझ लेना बस गये काम से। आओ मेरे साथ। मैं तुम्हारी नौकरी का बन्दोबस्त कराये देता हूँ।"

दोनों ने उसे रहमत का फ़रिश्ता समझा जिसको अल्लाह मियाँ ने उनकी हालत पर रहम खा कर भेजा था। वह उसके साथ जाने पर तैय्यार हो गये। करते भी क्या। पास फूटी कौड़ी भी नहीं थी। अजनबी जगह, कोई जान-पहचान का भी न था।

वह दोनों को अपने साथ लेकर, न जाने कौन-कौन-सी सड़कों और जगहों के चक्कर काटता हुआ एक मकान पर पहुँचा। यह इलाक़ा शह्र से कुछ अलग-थलग था। थोड़ी-सी आबादी थी और कुछ कच्चे मकानों के दरम्यान, वह एक मंज़िला पुख़्ता मकान था। उस आदमी ने दरवाज़े पर दस्तक दी। दरवाजा तो नहीं खुला अलबत्ता किसी ने बराबर वाली खिड़की खोल कर पूछा,

"कौन है?"

वह आदमी बोला। "मैं हूँ रहमान।"

"अच्छा-अच्छा!" अंधेरे में बोलने की आवाज़ सुनाई दी। उसका चेहरा नज़र न आया। ज़रा देर बाद दरवाज़ा खुल गया। रहमान उन दोनों के साथ अन्दर दाखिल हो गया। एक खाली कमरे से गुज़र कर वह एक कमरे में पहुँचे जहाँ एक गठे हुये जिस्म का आदमी आँखें बन्द किये सर की मालिश करा रहा था। रहमान ने खिखार कर कहा, "मैंने कहा ख़लीफ़ा जी, बड़े ज़ोरों की चम्पी हो रही है।"

ख़लीफ़ा जी ने आँखें खोल कर देखा। "अबे तू आ गया।" फिर उसकी नज़र नौशा और राजा पर पड़ी। उसने फ़ौरन कहा।

"यह कौन हैं जी?"

रहमान ने आँख मार कर कहा, "बेचारे घर से रूठ कर चले आये। मुसाफ़िर खाने में पड़े थे। यहाँ कोई जान-पहचान का भी नहीं। मैं यहाँ ले आया। रख लो, पड़े रहेंगे।"

ख़लीफ़ा जी इस दफ़ा उनको गहरी नज़रों से देखा, "देखने में तो सीधे-सादे लगते हैं। चल तू कह रहा है तो इनको भी रख लूँगा। वैसे मैंने कब तेरी बात टाली है।" उसके बाद वह उन दोनों को मुख़ातिब करके बोला। "अबे तुमने कुछ खाया-पिया भी, सूरत से तो फ़ाके पर फ़ाक़ा किये हुये लगते हो।" फिर उसने आदमी को क़रीब बुलाया जो उसके

सर की मालिश कर रहा था और उससे कहने लगा,

"अबे बूटा, जा इनके लिये होटल से खाना ले कर आ।"

बूटा जाने लगा तो उसने टोक कर कहा, "और हाँ देखो बड़े कमरे में इनके सोने का बन्दोबस्त कर दे। वहाँ साला कुछ काट कबाड़ पड़ा है, कल सवेरे उसको हटा दीजियो।" उसके बाद उसने राजा और नौशा से कहा, "जाओ जी तुम इसके साथ चले जाओ। डट कर खाओ और ऐंड़ कर सोओ। अब कल बात होगी।"

वह दोनों बूटा के साथ कमरे के बाहर चले गये।

उनके जाने के बाद ख़लीफ़ा जी ने रहमान से पूछा, "बोल बे इनका क्या लेगा ?"

रहमान सिग्रेट का कश लगा कर बोला, "ख़लीफ़ा जी, आज तो सीधे हाथ से पाँच, सौ-सौ वाले दिलवा दो। खुदा क़सम बड़े काम के लौंडे हैं।"

ख़लीफ़ा जी ने उसको डाँट दिया, "चल-चल ज़्यादा बातें न बना। दो सौ से एक पैसा ज़्यादा न मिलेगा। कल दिन में आकर अपना हिसाब ले जाइयो।"

"अरे ख़लीफ़ा जी ऐसा जुल्म तो न करो। इतने में सौदा न होगा। बुलवा लो उनको। अभी तो उन्होंने तुम्हारा नमक भी नहीं खाया।"

ख़लीफ़ा जी ने उसको घूर कर देखा, "अबे दल्लाली करते-करते साले तूने यह दादा गीरी कब से शुरू कर दी। चल पचास और ले लीजियो, ज़्यादा शोर मत मचाना।"

रहमान थोड़ी देर हुज्जत-तकरार करने के बाद ढाई सौ रुपये पर तैय्यार हो गया।

नौशा और राजा को ख़लीफ़ा जी के अड्डे पर कई दिन गुज़र गये। इस अर्से में न ख़लीफ़ा जी से उनकी मुलाक़ात हुई, न उनको कोई काम करना पड़ा। उनके लिये दोनों वक़्त का खाना होटल से आ जाता। रहने को कमरा मिल गया था अलबत्ता उनको घड़ी भर के लिये भी बाहर निकलने की इजाज़त न दी गई। दरवाज़े पर चौबीस घंटे एक आदमी की ड्योटी रहती। अगर वह कभी भूले से भी उस तरफ़ निकल जाते तो वह आँखें निकाल कर कहता,

"क्यों बे क्या इरादा है, जाओ अपनी कोठरी में, ख़बरदार जो इधर का रुख किया।"

दोनों इस पाबन्दी से जल्द ही घबरा गये। सब से पहले राजा ने महसूस किया कि वह किसी चक्कर में फँस गये हैं। रोज़ाना रात को ख़लीफ़ा जी की बैठक में महफ़िल जमती। रात के वक़्त कितनी ही अजनबी सूरतें मकान के अन्दर नज़र आतीं। और रात के सन्नाटे में ख़लीफ़ा जी बैठक से बातें करने की आवाज़ें आया करतीं।

आखिर एक रोज़ दोपहर के वक़्त ख़लीफ़ा जी के पास उनकी तलबी

[शेष पृष्ठ ६६ पर]

अज़ीज़ुन्निसा

ऐ होश की बातें करो, थू-थू, हमें क्या होगा, कोई हम शह्र के हैं ? हमरे यहाँ दिहात में पक्के सेर-सेर भर माश के आटे की रोटी खा लेते हैं और लोटा भर कर गुड़ का शर्बत ग़टाग़ट पी जाते हैं ।

बावर्चीख़ाने से लू के तेज़ झक्कड़ों को चीरती-फाड़ती हुई आवाज़ मेरे कमरे तक आई, "महादेव ! अरे महादेव ! कहाँ से निगोड़ी दाल उठा लाया, सुब्ह से चूल्हा फूंकते-फूंकते कलेजा मुंह को आगया, दाल न आज गलती है न कल !"

मेरी खालेज़ाद बहन (मौसी की बेटी) अनवर सुल्तान ने चम्चे में आइसक्रीम उठाई ही थी कि रुक गईं और मेरी तरफ़ देख कर कहा, "यह वही माश......"

"और कौन-सी दाल ? आपा !" बात काटकर मैंने जवाब दिया, "माश की दाल न हुई, हर रोज़ जी का जंजाल हो गई। कोई खाये या न खाये कम-से-कम आध सेर

माश की दाल

पहले रोज़ चूल्हे पर चढ़ जाये। मेरा बस चले तो, क़सम खाती हूँ, सैदानी बीबी की क़ब्र में एक पूरी देग पकवा के रख दूँ।" मैंने झल्ला कर अपनी बर्फ़ मेज़ पर रख दी। मेरे साथ आपा भी उठ खड़ी हुईं। खस की टट्टी सूख चली थी। अँगनाई में लू के पहने ही थपेड़े ने मुँह झुलस कर रख दिया।

"यह फ़स्ल देखो और माश की दाल देखो ?" आपा ने चुपके से कहा, मगर बावर्चीख़ाने में पहुंचते ही वह खिल-खिला कर हँस पड़ीं। सर से पैर तक पसीने में तर-बतर, आँखें लाल-भभूका, काँपते हाथों में फुँकनी को भूँचाल, सैदानी बुढ़ापे की भरपूर ताक़त से फूं-फूं-फूं चूल्हा फूंके चली जा रही थीं।

धुँवा बावर्चीख़ाने में घुटा हुआ था, आँच न भाप। मुझ से हँसी न रुक सकी। "यह आप को क्या हो गया है सैंदानी बीबी!" मैंने बलन्द आवाज़ में कहा, "अभी कल ही तो पेड़ कटा है। इन गीली-गादा लकड़ियों में ख़ाक आँच होगी?" यह कह कर मैंने धुँवा निकलती लकड़ियाँ एक-एक कर के अँगनाई में फेंकना शुरू कीं।

"अरे यह क्या? अरे यह क्या!" सैदानी जलबलाती रहीं। मैंने एक न सुनी। सूखी-खड़ंक लकड़ियाँ कोठरी से निकालीं। दम भर में भर-भर आँचें निकलने लगीं। हम ठट्ठ लगाने लगे—ठी-ठी-ठी!

नीली-पीली आँखें निकाल कर वह बोली, "यह कल की टाँग बराबर की छोकरियाँ हमारा ठठ्ठा उड़ाने चली हैं। ऐ बन्नोओ! ऐ बीबियो!! आँच जितनी ही हल्की उतनी ही धीमे-धीमे दाल अच्छी गलती है!"

जी में तो आया जल कर कह दूँ, "फिर कम्बख़्त महादेव की जान को क्यों पीटे जा रही थीं?" मगर सैदानी के दिल को दुख देना अपनी माँ को क़ब्र में दुख देना था। हम लोग चुपके से खिसक आये।

बाजी शप-शप टट्टी छिड़कने लगीं। मैंने कोई ३०-४० हाथ आइसक्रीम की मशीन चलाई। फिर तश्तरी भर के बर्फ़ निकाली, मगर बावर्चीख़ाने जो आई तो आँसुओं का तार बँधा हुआ, सैदानी चहकों-पहकों रो रही हैं और दाल के फुद-फुद पकने से पतीली का ठकना ठन-ठन कर रहा है।

"क्या हुआ सैदानी?" मैंने पूछा।

"नन्ही बू-बू बनती हो। ले जाओ अपनी बर्फ़-सर्फ़। इसी दिन के लिये तुम पर जान दी है?"

"आपा कोई ग़ैर है सैदानी? फिर मुझ से ज़्यादा तुम्हारा ख़याल करती हैं और तुम्हारी माश की दाल पर तो उनकी जान जाती है।" मैंने गले में बाहें डाल कर कहा।

"जभी परसों कह रही थीं अभी आठ-सात दिन दाल-वाल न पकाओ।" सैदानी ने झल्ला कर जवाब दिया।

"क्या ग़लत कहा। तुम्हें नहीं मालूम! मुँह-पेट की बीमारी किस तड़ापड़ी से चल रही है?" मैंने बात काट कर कहा।

"ऐ होश की बातें करो, थू-थू, हमें क्या होगा, कोई हम शहृ के है? हमरे यहाँ दिहात में पक्के सेर-सेर भर माश के आटे की रोटी खा लेते हैं और लोटा भर कर गुड़ का शर्बत ग़टाग़ट पी जाते हैं।"

बर्फ़ आधी घुल गई थी। मैंने सैदानी को क़समें दीं। अपने हाथ से बर्फ़ खिलाई। इतने में बाबा जान घर में दाख़िल हुये और आते ही कहने लगे, "देखो भई फ़स्ल बहुत ख़राब हो रही है, माश की दाल वग़ैरा न पकाई जाय।"

यह कह कर पाँव पटकते बाबा जान तो कोठे पर अपने कमरे में चले गये और मैं सन्नाटे में आ गई।

मैं लखनऊ मेडिकल कालेज के पाँचवें साल में पढ़ती थी और मुझे खूब मालूम था कि कालरे से बदहज़्मी का कोई दूर का भो वास्ता नहीं बल्कि इस फ़स्ल में भूका रहना ही क़यामत है। यह वबा (बीमारी) इस तरह फैलती है कि कालरे के ख़ुर्दबीन से देखे जाने वाले जरासीम (कीड़े) मेले-ठेले के किसी कुयें में गिर कर पहुँच जाते हैं और लोग उसका पानी पी लेते हैं तो घर पहुँचते-पहुँचते बीमार पड़ जाते हैं! क़ै-दस्त शुरू हो जाते है। मक्खियाँ उन पर बैठती हैं और जरासीम को इधर से उधर ले जाती हैं। फिर सारे पास-पड़ोस में आग फैल जाती है। माश की दाल का इस से कोई तअल्लुक़ नहीं होता, मगर यह बात बाबा जान की समझ में किसी तरह नहीं आती थी। वह समझते थे कि हैज़ा बस बदहज़्मी से होता है और बदहज़्मी की सबसे लड़ी वजह माश की दाल होती है!

मैं बड़े सोच में पड़ गई। एक तरफ़ बाबा जान का यह हुक्म कि माश की दाल न पके और दूसरी तरफ़ सैदानी बीबी की तैय्यारियाँ! सैदानी बीबी अस्ल में हमारे घर की एक मिम्बर-सी हो गई थीं। उन्होंने मुझे एक नौ महीने पेट में तो नहीं रक्खा था वरना माँ से बढ़कर पाला था। मैं तीन महीने की जान थी कि मेरी माँ मुझे छोड़ कर दुनिया से चल बसीं थी। मेरे दोनों भाइयों पर भी सैदानी जान देती थीं। ज़रा भी किसी की उंग्ली दुखती वह दुआएँ पढ़-पढ़ कर सारी रात आँखों में काट देतीं। ज़रा तबीअत सँभलती, कितनी ही मिन्नतें उतारतीं, सदक़ा और ख़ैरात किया करतीं। हम लोग जब सो जाते हर एक के सरहाने बैठ कर दुआएँ पढ़ती। सैदानी को हमारे यहाँ आये हुये २७-२८ बरस हो गये थे। खाना पकाने में नौकरी की थी मगर तीन-ही-चार महीने में सुनती हूँ, अपने रख-रखाव से हर एक के दिल में ऐसी जगह बना ली थी कि कोई उन्हें मामा (खाना पकाने वाली) न समझता। सैदानी के आने के कोई दो-तीन साल के बाद कुँओं में बाँस डालते, ढूँढते-ढाँढते, जब उनके भाई हमारे यहाँ आये तो घरभर अचम्भे में पड़ गया। उनके भाइयों के पास अल्लाह का दिया सब कुछ था। खेत भी, बाग़ भी, मकान भी। सैदानी के शौहर का इन्तिक़ाल हो गया था और वह भाइयों ही के साथ रहती थीं। भाई उन्हें बहुत चाहते थे और उन्हें कोई तकलीफ़ न थी मगर जिस दिन से १५-१६ साल का एकलौता लड़का, रँडापे का चराग़, यकायक बुझ कर रह गया, बदहवास हो गईं। यहाँ तक कि दिमाग़ ख़राब हो गया। आख़िर उसी आलम में एक दिन घर से बाहर निकल पड़ीं। न जाने हमारे वहाँ कैसे पहुँच गईं। चेहरे पर मुहताजी-सी टपक रही थी। मेरी माँ ने न कुछ पूछा-न-पाछा, शरीफ़ समझ कर रख लिया। यह एहसान फिर कभी न भूलीं। जब भाइयों ने वापस चलने पर

ज़ोर दिया तो चीख़ कर बोलीं, "बेगम बीमार हैं, मैं उनसे तोते की तरह आँखे फेर कर तुम लोगों के साथ चली चलूँ......यही शराफ़त है ?" जब बड़ी बीमारी में बेगम ने क़ब्र बसा ली और भाई फिर बुलाने आये तो बोली, "वे माँ के कमसिन बच्चों को किस पर छोड़ूँ, क्या मेरी आँख में सुवर का बाल है !" भाइयों ने लाख चाहा मगर अल्लाहे री शराफ़त, न जाना था न गईं। भाइयों ने भी सब्र कर लिया। छटे-छमाहे ज़रूर बहन को देखने आते।

मैंने कभी जाड़ा, गर्मी, बरसात सिवा एक पहनावे के कभी दूसरा कपड़ा पहने हुए नहीं देखा। पुराने ढंग का पायजामा, छः-छः गज़ के पाइँचे, पेट के ऊपर घुड़से हुए एक ही पीस का शलूका। पाँचों वक़्त की नमाज़, सुब्ह को क़ुर्आन-पाक। कभी-कभी हम लोग बहुत सताते मगर हँसे जातीं हरगिज़ बुरा न मानतीं। लेकिन, अगर कभी उनकी त्योरी पर ज़रा बल आ जाता तो फिर किसी में दम मारने की मजाल न होती। हाँ, एक बाबा जान से बहुत डरतीं या लिहाज़-पास करतीं। मैंने तो अपने होश में उन्हें बाबा जान के सामने किसी से भी एक लफ़्ज़ (शब्द) बोलते नहीं सुना। सारे घर का ख़र्च उन्हीं के हाथ में रहता। जिसको जो चाहें उठा कर दे दें कोई पूछने वाला न था। बस उनकी माश की दाल हर-एक के लिए तमाशा थी, किसीकी इतनी मजाल न थी कि हम लोगों के सामने कुछ कह सके। मगर मौक़ा पाकर बच्चे-बूढ़े छेड़ते ही और बात भी थी छेड़ने ही वाली। किसी की ज़बान कहाँ तक कोई रोक सकता था। मैंने डाक्टरी में जब से तअल्लुक़ रखने वाली बीमारियों के बारे में पढ़ा तो उस वक़्त मेरी समझ में आया कि सैदानी की माश की दाल, माश की दाल नहीं है बल्कि जुनून (पागलपन) है। साइकालोजिस्ट इस मरज़ को 'किलिप टो मेनिया' कहते हैं। जैसे किसी को सिर्फ़ एक चीज़ आँख बचा कर उठा लेने की आदत पड़ जाये। जैसे, सिर्फ़ रुमाल, चाक़ू, या फ़ाउन्टेनपेन। यूँ हज़ारों के नोट पड़े मिल जायें तो हाथ न लगाये। यह चोरी नहीं कहलाती। इसी तरह माश की दाल को बार-बार पकाना एक दिमाग़ी मरज़ था, जिसे किलिपटो मेनिया अगर न भी कहा जाये तो 'अबसेशन' (Obbsession) ज़रूर था वरना और सब बिल्कुल टीक थीं। हाँ, सैदानी बीबी में एक और ख़ास बात भी थी। वह दोनों वक़्तों की चाय हम भाई-बहनों के साथ गर्मी, जाड़ा, बरसात हर रोज़ पीतीं मगर खाना हम लोगों के साथ कभी न खातीं। एक सेनी में दाल, चावल, सालन, तरकारी रोटी लगा कर अपने कमरे में चली जातीं। चाहे कैसी ही गर्मी पड़ रही हो, अन्दर से सिटकिनियाँ चढ़ा लेतीं। फिर जब तक खाना न खा लेतीं दरवाज़ा न खुलता, यह बात भी मेरी समझ से बाहर

डगर

थी। और सब को भी तअज्जुब था।

सैदानी को खाना पकाने से इश्क़ था। जो हन्डिया पकातीं, नमक-पानी से कुछ ऐसी दुरुस्त होती कि जी चाहता उंग्लियाँ तक चाट ले। माश की दाल पकाना उनका अपना ही हिस्सा था। एक तरह से नहीं कई-कई रंग से पकातीं। कभी दूध में गलातीं, कभी कई घंटे तक भिगोये रखतीं, फिर उसे ख़ूब धो कर साफ़ कर लेतीं, तब पकातीं। कभी मसाले डालतीं, कभी दाल में फुद-फुदी आते ही बघारना शुरू करतीं, पकते-पकते दस-बारह मरतबा बघार देती। मगर उस चिलचिलाती हुई धूप और गर्मियों में जैसी माश की दाल सैदानी बीबी ने पकाई वैसी फिर कभी न पका सकी......

"साहबज़ादी आइये!" बावर्ची-ख़ाने से आवाज़ आई। दीवार पर घड़ी की दोनों सूइयाँ ठीक बारह बजे पर थीं। हम और बाजी बावर्चीख़ाने पहुँचे, "आज की दाल देखना, इस मज़े की दाल इससे पहले न खाई होगी।" फ़ौरन मेरे कानों में बाबा जान का हुक्मे-नादिरी गूँज गया। मैंने दिल में कहा—आज ख़ुदा ही ख़ैर करे। यह सोचते ही मैंने डिशों और डोंगों में खाना निकाला। डरते-डरते एक डोंगे में दाल भी निकाली और नौकरानी सारा खाना डाइनिंग रूम ले गई। पीछे-पीछे मैं भी पहुँच गई। बाजी बाबा जान को बुलाने कोठे पर चली गई थीं। मैंने मौक़ा पर डरते-डरते सैदनी बीबी से कहा, "बावा जान फ़स्ल की ख़राबी से बौलाये हुये हैं। अगर दाल फेंक दें तो ज़रा ख़फ़ा........"

"दाल फेक देंगे। दाल ?" सैदानी बीबी ने घबरा कर कहा और अचानक ऐसा मालूम हुआ जैसे उनके चेहरे पर किसी ने मुल्तानी मिट्टी मल दी हो।

"देखो सैदानी अस्पतालों में तिल रखने की जगह नहीं।" मगर सैदानी ने जैसे मेरी बात सुनी ही नहीं। उन्हें जैसे साँप सूँघ गया हो। इतने में बाबा जान कोठे से आगये। उन्हीं के पीछे-पीछे बाजी। तीन सेकेन्ड के लिये खड़े-खड़े ही बाबा जान ने अपनी ग़ुस्सा भरी निगाहें डोंगे पर डालीं और कनखियों से सैदानी बीबी ने नव्वाब साहब की नज़रों को देखा। मेरे दिल की धड़कन तेज़ हो गई कि बाबा जान अब कोई नादिरी-हुक्म देते हैं मगर उनका मुँह खुल कर फ़ौरन ही बन्द हो गया और अपनी कुर्सी पर बैठ गये। उस दिन भाई मेरे घर में न थे। दूसरी वक़्त तक दोस्तों के साथ पलट कर आने वाले थे। हम लोग भी खाने के लिये बैठ बये। फिर भी मेरे दिल में पंखें लगे हुए थे। मेरी निगाहें-नज़र बचा कर कभी बाबा जान पर पड़ती, कभी सैदानी के चेहरे पर मौत की हवाइयाँ उड़ती देखती और मुझे दिल-ही-दिल में पूरा यक़ीन था कि खाना ख़त्म

होने के बाद जो क़यामत टल गई आके रहेगी।

बाबा जान का हमेशा का दस्तूर था कि जब वह खाने की मेज़ पर बैठते तो बड़े ख़ुश मिज़ाज रहते मगर उस दिन खाने की मेज़ पर मौत की-सी ख़ामोशी छाई रही और मैं दिल में दुआएँ माँगती रही कि असल ख़ैरियत से यह वक़्त गुज़र जाये। ख़ुदा-ख़ुदा करके खाना खत्म हुआ। माश की दाल किसी ने नहीं खाई। बाबा जान ने हाथ मुँह धोया। 'वाश-बेसिन' के पास आये और रोज़ाना की तरह से ज़्यादा देर तक खड़े रहे। मालूम नहीं बेसिन के ऊपर आइने में सैदानी बीबी के चेहरे का उतार-चढ़ाव देख रहे थे या यह सोच रहे थे कि माश की दाल का सवाल किस तरह छेड़ा जाये। फिर अचानक वह तीर की तरह दरवाज़े से निकले और कोठे पर तेज़ी से चढ़ते चले गये। हम लोग भी हाथ मुँह धोने लगे।

मैं दिल में बहुत ख़ुश थी कि जान बची। मैंने चाहा कि सेनी में सैदानी बीबी के लिये खाना लगादूँ। उन्होंने बढ़ाकर मेरे हाथ से कफ़गीर (करछुल) ले ली। अब जो उनके चेहरे को देखती हूँ तो कानों की लौवों तक में लहू नहीं। होंट नीले, "या अल्लाह अब क्या है!" मैंने दिल में कहा। सैदानी बीबी ने अपने लिये खाना निकाला मगर दाल का डोंगा जहाँ था वहीं रहने दिया। चलते वक़्त दाल पर एक हसरत भरी नज़र डाली, एक ठंडी साँस खींची और अपने कमरे में चली गईं।

उस वक़्त की उनकी तस्वीर मुझे अब तक नहीं भूली। मैंने बाजी से कहा, "ख़ुदा ख़ैर करे, सैदनी बीबी अब टिकने वाली नहीं।"

"ऐ हटो!" बाजी ने कहा, "क्या किसी ने उनसे कुछ कहा है जो जायेंगी।"

"उनके चेहरे के रंग बुरे हैं।" मैंने जवाब दिया।

यह कह कर मैं अपने कमरे में चली गई मगर मेरे दिल को जैसे चैन न था। मैंने कहानियों की एक किताब उठाई। वरक़ पलटती रही। किसी कहानी में दिल न लगा। चार बजे, सवा चार, साढ़े चार बजे मगर सैदानी चाय बनाने के लिए अपने कमरे से न निकलीं। मैं घबरा कर उनके कमरे में ख़ुद ही चली गई। तिपाई पर खाने की सेनी यूँही की यूँही रक्खी हुई, सैदानी चादर ओढ़े हुए, आँखें बन्द किए बड़बड़ा रही थीं। माथे पर हाथ जो रक्खा, चने भुन रहे थे। मैं जल्दी से बाजी के पास दौड़ी और भर्राई हुई आवाज़ में कहा, "जा रही हैं, सैदानी बीबी।"

"कहाँ जा रही है?" बाजी ने घबरा कर पूछा।

"अल्लाह मियाँ के यहाँ!" मैंने कहा।

बाजी नंगे पाँव दरवाज़े तक पहुँची ही थी कि मैंने कहा, "ठहरिए उन्हें कम-से-कम १०५ डिगरी बुख़ार है।

जिस्म पर हाथ नहीं रक्खा जा रहा है। जब तक डाक्टर आये-आये उन्हें बर्फ़ से ढक देने की ज़रूरत है।" यह कह कर मैंने दराज़ से थर्मामीटर निकाला। सीना देखने का स्टेथिस्कोप लिया। शलूके के बटन खोल के दिल पर आला रक्खा ही था कि मेरे मुँह से बेअख़्तियार निकल गया, 'या अल्ला यह क्या है! साफ़ 'मर-मर' की आवाज़ सुनाई दे रही है। यह तो मौत के फ़रिश्ते के परों की आवाज़ थी। अब थर्मामीटर जो देखती हूँ तो बग़ल में १०६ डिगरी।

"या अल्लाह! मुँह में तो एक-सी सात से किसी सूरत में कम न होगा। बाजी! जल्दी से उठिये। जल्दी से किसी डाक्टर को बुलाइये।" मैंने कहा और मुंगरी से बर्फ़ कुलचना शुरू की। बाजी ने महादेव को एक डाक्टर के बुलाने के लिए भेजा। बाबाजान खाना खा कर थोड़ी देर आराम करने के बाद कहीं चले गए थे। मैंने बाजी से फिर कहा, "अच्छा आप बर्फ़ कुचल-कुचल के देती जाइये मैं सैदानी के सारे जिस्म को ढाँपती जाऊँ। बुख़ार कुछ तो कम हो कि हाथ चले। वह बिजली की तरह जल्दी-जल्दी बर्फ़ कुचलने लगीं। मैं सैदानी के जिस्म से कपड़े उतारने लगी और बर्फ़ रखना शुरू की। कोई बीस मिनट में सैदानी ने आँखें खोलीं, लाल-लाल मालूम होता था कि अँगारे दहक रहे हैं। उन्होंने मुझे देखा। मैं उनके मुँह के पास मुँह ले गई।

"कौन साहबज़ादी?" उन्होंने थरथराई आवाज़ में कहा,

"हाँ मैं ही हूँ सैदानी बीबी, घबराइये नहीं। अभी-अभी आप की हालत..."

वह फ़ौरन बात काट कर बोलीं, "तुम मेरी हालत की फ़िक्र न करो। मेरे बच्चे कहाँ हैं?" मैंने बताया कि अभी नहीं आये हैं। फिर नव्वाब साहब को पूछा। मैंने कहा वह भी नहीं हैं। एक ठंडी साँस भरी फिर उन्होंने मेरी तरफ़ हाथ बढ़ाये और उनके मुंह से निकला, "मेरी चच्ची खुदा हाफ़िज़!" उनकी आवाज़ डूब रही थी। मैं उनके होंटों के पास कान ले गई। "देखो भूलना नहीं, सुना, नव्वाब साहब से ज़रूर कह देना। मुझे खुद माश की दाल से नफ़रत थी—न न—नफ़रत—मगर मेर हस—हसन को बहुत भाती थी। ख़ुदा गवाह है मैंने नव्वाब के बच्चों—नवाब साहब के बच्चों को अपनी औलाद समझा—वह भी मेरे-मेरे हस-हसन को न भूलें——हर जुमेरात (वृहस्पत) की उस-उस का फ़ातेहा——दिल—दिल मिलवा दें——मगर———मेरे ही कम——रे दे———"

यकायक सैदानी बीबी की आँखें पथरा गईं और मेरे मुँह से एक दम चीख निकल गई।

पैदाइश : फ़ैज़ाबाद—१८०५ ई० मौत : लखनऊ—१८७४ ई०

दिल्ली की ज़बाँ का सहारा था 'अनीस'
और लखनऊ का अंजुमन-आरा था 'अनीस'
दिल्ली जड़ उसकी, लखनऊ उसकी बहार
दोनों का है दावा कि हमारा था 'अनीस'

मौलाना 'हाली'

●

मीर 'अनीस' उर्दू के सबसे बड़े शाएरों में गिने जाते हैं। उनके खानदान ने कई पीढ़ियों से उर्दू की सेवा की है। मीर 'अनीस' के परदादा मीर 'ज़ाहिक' की शाएरों की वजह से 'सौदा' से नोक-झोंक रहती थी। उनके दादा मीर हसन उर्दू-मसूनवी के सबसे बड़े शाएर हैं। मीर 'अनीस' के बाप मीर 'खलीक़' भी अपने ज़माने में मरसिया के बहुत बड़े शाएर थे। कहते हैं कि पहले 'उर्दूए-मुअल्ला' की एक गोष्ठी थी, जिसमें शब्दों का चुनाव किया

जाता था और मीर हसन उसके मीर-मुंशी थे। अगर यह सही है तो फिर वाक़ई उर्दू मीर 'अनीस' के घर की ही ज़बान थी !

मीर 'अनीस' ने अपने पिता के नेतृत्व में काव्य-शिल्प का ज्ञान प्राप्त किया और उन्हीं के कहने से मरसिया शुरू किया। उस वक़्त उनके मुक़ाबिले में मिर्ज़ा 'दबीर' का पताका लहराया, जिसके मुक़ाबिले में मीर 'अनीस' ने अपने ख़यालों का लशकर जमाया। मिर्ज़ा 'दबीर' और मीर 'अनीस' के मारिके में में उर्दू-मरसिया ख़ूब चमका। उसमें भावों की अभिव्यक्ति, अनुभूतियों की गहराई, और कलात्मक दक्षता के ऐसे प्रदर्शन हुए कि यही काव्य-रूप उर्दू-शाएरी की आबरू कहा जाने लगा।

मीर 'अनीस' ने बड़े आन के साथ ज़िन्दगी भी निभाई। न कभी किसी रईस की तारीफ़ की और न किसी के सामने मदद के लिए हाथ फैलाया। उनका ख़ुद कहना था :

दर प शाहों के नहीं जाते फ़क़ीर अल्लाह के
सब जहाँ रखते हैं सर, हम वाँ क़दम रखते नहीं

जब लखनऊ ग़दर में लुट गया तो मीर 'अनीस' को भी मजलिसें पढ़ने के लिए बाहर निकलना पड़ा और हैदराबाद, पटना, इलाहाबाद और बनारस वग़ैरह गये। हर-एक जगह उनकी बड़ी आव-भगत हुई।

मीर 'अनीस' ने कितने मरसिये कहे यह तो बताना मुशकिल है। उनके मरसियों की पाँच जिल्दें छपी हुई हैं। इनके अलावा बहुत से सलाम और रूबाइयाँ हैं।

मरसिया किसे कहते हैं !

अरबी-फ़ारसी की पद्धति पर उर्दू का वह शोक-गीत, जो किसी मृतव्यक्ति की याद में लिखा जाय, 'मरसिया' कहलाता है। परन्तु इसका विशिष्ट अर्थ भी है। उर्दू-काव्य में जब केवल मरसिया शब्द का प्रयोग किया जाय तो प्रायः उसका तात्पर्य इस्लामी पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा के नवासे इमाम हुसैन और उनके साथियों की स्मृति में लिखे शोक-गीत से होता है, जो करबला के मैदान में सत्य की रक्षा में शहीद हुए थे। परन्तु मरसिये का महत्त्व केवल इस धार्मिक कारण से नहीं हैं, बल्कि इस ढाँचे में उर्दू कवियों ने बहुत से विषय सम्मिलित करके इसे काव्य का बहुत महत्त्वपूर्ण रूप बना दिया है।

मरसिये उर्दू में प्रारम्भिक काल से ही पाये जाते हैं। कुछ लोगों का तो यह मत है कि उर्दू में काव्य-रचना का आरम्भ मरसिये से ही हुआ। 'सौदा' और 'मीर' के युग से कई सौ वर्ष पूर्व के मरसिये भारत और इंगलिस्तान के भिन्न-भिन्न पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं।

'लखनऊ स्कूल' के पहले उर्दू में मरसियों का कोई रूप निश्चित नहीं था।

लोग मुरब्बा (चार मिसरे), मुसल्लस (तीन मिसरे) और ग़ज़ल इत्यादि के माध्यम से ही मरसिया कहते थे। लखनऊ में मुसद्दस की आकृति मरसिये के लिये निश्चित हो गयी और इसके पश्चात् मरसिया मुसद्दस में ही लिखा जाने लगा।

प्रेम और आशिक़ी के विषय से अलग होकर उर्दू-मरसिये ने यह दिखाया कि मानव सम्बन्धी में बहुत से ऐसे भी सम्बन्ध हैं, जिनका लगाव यौन-आकर्षण के आधार पर नहीं है, जैसे, भाई-बहन का प्रेम, स्वामी-सेवक का प्रेम आदि। इन सब सम्बन्धों को मरसिये ने उभारा, नहीं तो मानव-जीवन के कितने ही पहलुओं से उर्दू-काव्य वंचित रह जाता।

मरसिये में यद्यपि प्रायः इमाम हुसैन के घराने की उन घटनाओं का वर्णन होता है जो करबला के मैदान में घटित हुई, परन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा, जाय तो उन मरसियों में १९वीं शताब्दी के ऊँचे घरानों की सभ्यता और संस्कृति की झाँकियाँ मिलती हैं। छोटा भाई बड़े भाई का जैसा आदर करता है, भानजे मामा के प्रति जिस प्रकार की श्रद्धा रखते हैं, वृद्ध जिस प्रकार अपने छोटों से पेश आते हैं, एक परिवार में सब लोग एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति और शुभचिन्तना करते हैं, स्त्रियाँ जिस प्रकार बातचीत करती हैं—इन सबका वर्णन मरसियों में इस प्रकार किया गया है कि उन्नीसवीं शताब्दी के नव्वाबी घरानों के चित्र दृष्टि के सामने आ जाते हैं। यात्रा की तैय्यारी, विवाह और उसके रस्म-रिवाज इत्यादि वर्णनों के द्वारा मरसिया सामाजिक जीवन के ऐसे नमूने पेश करता है, जो उर्दू-काव्य में और कहीं नहीं मिलते।

प्रकृति-वर्णन उर्दू में मरसिये में ही मिलता है। बहार और खिज़ाँ (पतझड़), प्रातः और सन्ध्या, गर्मी और धूप के सैकड़ों दृश्य पेश करके उर्दू में दृश्य-चित्रण की वृद्धि मरसिये द्वारा ही हुई है और वीरता, साहस तथा युद्ध के कार्यों का ऐसे ढंग से वर्णन किया गया है कि उर्दू में महाकाव्य-(रज़्मिया) का श्रीगणेश हुआ। यह नहीं कि युद्ध के मैदान का चित्र और बाजों का ज़ोर-शोर दिखाकर ही यह क्रम समाप्त हो जाता है, बल्कि मरसियों में लड़ाई के दृश्य विस्तारपूर्वक वर्णन किये गये हैं, जिनमें लड़ने वालों का मैदान में आना, नारा लगाना, शत्रुओं का सामना करना लड़नेवालों का दूसरों पर हम्ला करना, भिन्न-भिन्न हथियारों के प्रयोग आदि का वर्णन मरसिये में मिलता है।

मरसिये ने उर्दू-काव्य को एक संकुचित दुनिया से निकाल कर विस्तृत संसार दिखाया। चरित्र-चित्रण, कथनोपकथन या संलाप, स्वाभाविक शिक्षा, नये शब्दों और मुहाविरों के प्रयोग से उसे विस्तृत रूप दिया गया है। युद्धक्षेत्र का वर्णन लिखकर उसने ग़ज़ल से पैदा हुए विलासिता के वातावरण में उत्साह, उमंग और पौरुष के भाव प्रविष्ट किये हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मरसिये ने उर्दू-शाएरी को जिस उच्चता पर पहुँचाया, उसको जितने गुणों से सम्पन्न किया, किसी और काव्य के रूप ने नहीं किया।

मरसिया-साहित्य से संकलित

जब क़ता की मसाफ़ते-शब आफ़ताब ने[१] जल्वा किया सहर के रूख़े-बेहिजाब ने[२]
देखा सुए-फ़लक शहे-गरदूँरकाब ने[३] मुड़ कर सदा रफ़ीक़ों को दी उस जनाब ने
आख़िर है रात हम्दो-सनाए-ख़ुदा[४] करो
उट्ठो फ़रीज़ए-सहरी[५] को अदा करो

ये सुन के बिसतरों से उठे वो ख़ुदा-शिनास एक-एक ने ज़ेबे-ज़िस्म किया फ़ाख़िरा लिबास[६]
शाने महासिनों[७] में किये सब ने बेहिरास बाँधे अमामे[८] आये इमामे-ज़माँ के पास
रंगीं अबाएं दोश प, कमरें कसे हुये
मुश्को-ज़ुबादो-इत्र[९] में कपड़े बसे हुये

ठंडी हवा में सब्ज़ए-सहरा की वो लहक शर्माये जिससे अतलसे-ज़ंगारिए-फ़लक[१०]
वो झूमना दरख़्तों का, फूलों की वो महक हर बर्गे-गुल प क़तरए-शबनम की वो झलक
हीरे ख़जिल[११] थे, गौहरे-यकता निसार थे
पत्ते भी हर शजर के जवाहिर-निगार थे

वो दश्त[१२], वो नसीम के झोंके, वो सब्ज़ाज़ार फूलों प जा-बजा वो गुहरहाए-आब्दार[१३]
उठना वो झूम-झूम के शाख़ों का बार-बार बालाए-नख़्ल एक, जो बुलबुल तो गुल हज़ार
ख़्वाहाँ थे ज़हरे-गुलशने-ज़हरा[१४] जो आब के
शबनम ने भर दिए थे कटोरे गुलाब के

अल्लाह रे ख़िज़ाँ के दिन उस बाग़ की बहार फूले समाते थे न मुहम्मद के गुलअज़ार
दूल्हा बने हुए थे अजल थी गलों का हार जागे वो सारी रात के वो नींद का ख़ुमार
राहें तमाम जिस्म की ख़ुशबू से बस गईं
जब मुस्कुराये फूलों की कलियाँ बिकस गईं

नागाह[१५] चर्ख़ पर ख़ते-अबयज़ हुआ अयाँ[१६] तशरीफ़ जानमाज़ प लाए शहे-ज़माँ[१७]
सज्जादे[१८] बिछ गए अक़बे-शाहे-इन्सो-जाँ[१९] सौते-हसन[२०] से अकबरे-महरू[२१] ने दी अज़ाँ
हर-इक की चश्म[२२] आँसुओं से डबडबा गईं
गोया सदा[२३] रसूल की कानों में आ गई

१—सूरज ने रात का सफ़र तै किया, २—सुब्ह हो गई, ३—इमाम हुसैन ने आसमान की ओर देखा, ४—ख़ुदा की तारीफ़, ५—सुब्ह की नमाज़, ६—अच्छे कपड़े, ७—दाढ़ियों में कंघी की, ८—पगड़ी, ९—ख़ुशबूदार चीज़ें, १०—आकाश का कंचन रेशम, ११—लज्जित, १२—जंगल १३—चमकदार मोती, १४—जनाब फ़ातिमा के बाग़ के फूल, १५—अकस्मात, १६—आसमान पर पौ फटी, १७—दुनिया के बादशाह, इमाम हुसैन, १ —जानमाज़, १९—इन्सान और जानवरों के बादशाह के पीछे, इमाम हुसैन के पीछे, २०—मधुर आवाज़, २१—चाँद की तरह सूरत रखने वाले अकबर, २२—आँख, २३—आवाज़ ।

यह शाहकार मरसिया १६४ बन्द (११६४ पंक्तियाँ) का है। बहुत संक्षेप से इस प्रकार चुनाव किया गया है कि उसका वातावरण बना रहे और एक सम्पूर्ण कलाकृति से परिचय हो सके।

मीर 'अनीस' का मशहूर मरसिया

चुप थे तुयूर[१] झूमते ये वज्द[२] में शजर[३] तस्बीहख़्वाँ[४] थे बर्गो-गुलो-ग़ुंच-ओ-समर[५]
मद्ह्वे-सना[६] कुलूख़ो-नबातातो-दश्तो-दर[७] पानी से मुँह निकाले थे दरया के जानवर
एजाज़[८] थी कि दिलबरे-शब्बीर की सदा[९]
हर ख़ुश्को-तर से आती थी तकबीर की सदा

नामूसे-शाह[१०] रोते थे ख़ैमे में ज़ार-ज़ार चुपकी खड़ी थी सहन में बानूए-नामदार
ज़ैनब बलायें ले के ये कहती थी बार-बार सदक़े नमाज़ियों के मुअज़्ज़िन[११] के मैं निसार
करते हैं यूँ सना-ओ-सिफ़त-ज़ुलजलाल[१२] की
लोगो अज़ाँ सुनो मेरे यूसुफ़-जमाल की

येहुस्ने-सौत[१३] और येक़िरअत[१४] येशद्दोमद हक़्क़ा[१५] कि अफ़्सहुल-फ़ुसहा[१६] है इन्हीं का जद[१७]
गोया है लह्ने-हज़रते-दाऊदे-बाख़िरद[१८] यारब रख इस सदा को ज़माने में ता-अबद[१९]
शोबे-सदा[२०] में पँखड़ियाँ जैसे फूल में
बुलबुल चहक रहा है रियाज़े-रसूल में

फ़ारिग़ हुए नमाज़ से जब क़िब्लए-अनाम[२१] आए मुसाफ़हे[२२] को जवानाने-तश्नाकाम[२३]
चूमे किसी ने दस्ते-शहनशाहे-ख़ासो-आम आँखें मलीं क़दम प किसी ने बएहतेराम
क्या दिल थे क्या सिपाहे-रशीदो-सईद[२४] थी
बाहम मुआनिक़े[२५] थे कि मरने की ईद थी

सज्दे में शुक्र के कोई था मर्दे-बा-ख़ुदा[२६] पढ़ता था कोहुज़्न[२७] से कोई क़ुरआँ, कोई दुआ
नाते-नबी[२८] कहीं थी, कहीं हम्दे-किब्रिया[२९] मौला उठा के हाथ ये करते थे इल्तिजा
फ़ाक़ों प तश्नाकामी-ओ-ग़ुर्बत[३०] प रह्म कर
या रब मुसाफ़िरों की जमाअत प रह्म कर

ज़ारी[३१] थी, इल्तिजा थी, मुनाजात थी इधर वाँ सफ़-कशी-ओ-ज़ुल्मो-अतद्दी-ओ-शोरो-शर[३२]
कहता था इब्ने-साद[३३] ये जा-जा के नह्र पर घाटों से होशियार तराई से बाख़बार
दो रोज़ से है तश्ना-दहानी हुसैन को
हाँ मरते दम भी दीजो न पानी हुसैन को

१—पंछी, २—उन्माद, ३—पेड़, ४—तस्बीह पढ़ते हुए, ५—पत्ते, फूल, कलियाँ और फल ६—तारीफ़ करते हुए, ७—ढेले, पौधे, जंगल और मकान ८—चमत्कार, ९—इमाम हुसैन के बेटे की, आवाज, १०—हुसैन के घर वाले, ११—अजान देने वाला, १२—खुदा की तारीफ़, १३—लय की खूब सूरती, १४—क़ुरआन पढ़ना, १५—सत्य है, १६—सबसे बड़े बढ़िया भाषा वाले, १७—आजा, १८—हजरत दाऊद की तरह की लय, १९—हमेशा, २०—आवाज की मुरकियाँ २१—सम्माननीय, २२—हाथ मिलाना, २३—प्यासे जवान, २४—सज्जन और सुशील, २५—गले मिलना, २६—खुदा वाला इन्सान, २७—दुख, २८—मुहम्मद साहब की तारीफ़, २९—खुदा की तारीफ़, ३०—प्यास और परदेसीपन, ३१—रोना, ३२—फ़ौजें बढ़ाना, जुल्म, बलात, ३३—यजीदी फ़ौज का कमाण्डर।

बैठे थे जानमाज़ प शाहे-फ़लक सरीर नागह क़रीब आ के गिरे तीन-चार तीर
देखा हर-इक ने मुड़ के सुए-लशकरे-शरी अब्बास उट्ठे तोल के शमशीरे-बेनज़ीर[1]
पर्वाना थे सिराजे- इमामत[2] के नूर पर
रोकी सिपर हुज़ूर - करामत - ज़हूर पर

अकबर से मुड़ के कहने लगे सरवरे-ज़माँ[3] तुम जाके कहदो ख़ेमे में ये, ऐ पिदर की जाँ
बाँधे है सरकशी प कमर लश्करे-गराँ[4] बच्चों को ले के सहन से हट जाँय बीबियाँ
ग़फ़लत में तीर से कोई बच्चा तलफ़[5] न हो
डर है मुझे कि गर्दने-असग़र हदफ़[6] न हो

उट्ठे ये शोर सुन के इमामे-फ़लकविक़ार[7] ड्योढ़ी तक आए ढालो को रोके रफ़ीक़ो-यार
फ़रमाया मुड़के, चलते हैं अब बहरे-कारज़ार[8] कमरें कसो जेहाद प मँगवाओ राहवार
देखें फ़ज़ा[9] बेहिश्त[10] की दिल बाग़-बाग हो
उम्मत के काम से कहीं जल्दी फ़ुराग़[11] हो

फ़रमा के ये हरम में गए शाहे-बहरोबर[12] होने लगीं सफ़ों में कमर-बंदियाँ उधर
जौशन पहन के हज़रते - अब्बासे - नामवर दरवाज़े पर टहलने लगे मिस्ले - शेरे - नर
परतौ[13] से रूख़ के बंक़[14] चमकती थी ख़ाक पर
तलवार हाथ में थी सिपर दोशे-पाक[15] पर

ख़ेमे में जाके शह ने ये देखा हरम का हाल चेहरे तो फ़क़ हैं और खुले हैं सरों के बाल
ज़ैनब की ये दुआ है कि ऐ रब्बे-ज़ुलजलाल बच जाये इस फ़साद से ख़ैरुन्निसाँ[16] का लाल
बानूए-नेकनाम[17] की खेती हरी रहें
सन्दल से माँग बच्चों से गोदी भरी रहे

बोले क़रीब जा के शहे-आसमाँ जनाब मुज़्तर[18] न हो दुआएँ हैं तुम सब की मुस्तजाब[19]
मग़रूर हैं, ख़ता प हैं, ये ख़ानुमाँ-ख़राब[20] ख़ुद जाके मैं दिखाता हूँ इनको रहे-सवाब
मौक़ा बहन नहीं अभी फ़रयादो-आह का
लाओ तबर्रुकात रिसालत पनाह का

मेराज में रसूल ने पहना था जो लिबास कश्ती में लाई ज़ैनब उसे शाहे-दीं के पास
सर पर रखा अमामए-सरदारे-हक़ शिनास[21] पहनी क़बाए-पाके-रसूले - फ़लक - असास[22]
बर[23] में दुरुस्तो-चुस्त था जामा रसूल का
रूमाल फ़ातिमा का अमाम रसूल का

हथियार इधर लगा चुके आक़ाए-ख़ासो-आम तैय्यार उधर हुआ अलमे-सैय्यदे-अनाम[24]
खोले सरों को गिर्द थीं सैदानियाँ तमाम रोती थी थामे चोबे-अलम[25] ख़ाहरे-इमाम[26]
तेग़ें कमर में दोश[27] प शिम्ले[28] पड़े हुए
ज़ैनब के लाल ज़ेरे-अलम[29] आ खड़े हुए

१—बेमिसाल तलवार, २—इमाम हुसैन, ३—जमाने के मालिक इमाम हुसैन, ४—भारी फ़ौज, ५—निशाना, ६—छेद जाना, ७—आसमान की तरह ऊँची इज़्ज़त वाला, ८—जंग के लिए, ९—वातावरण, १०—जन्नत, ११—फ़ुरसत १२—ख़ुश्को-तर के बादशाह, इमाम हुसैन, १३—प्रतिबिम्ब, १४—बिजली १५—पवित्र कंधो, १६—सबसे नेक महिला, रसूल की बेटी हजरत फ़ातिमा, १७—इमाम हुसैन की बीवी, १८—परीशान, १९—क़ुबूल हुई, २०—बर्बाद घर वाले, २१—सत्य को जानने वाले सरदार, रसूले-इस्लाम, २२—आसमान की तरह ऊँचाई रखने वाले रसूल, २३—जिस्म, २४—रसूले-इस्लाम का पताका, २५—झंडे की छड़, २६—इमाम हुसैन की बहन, ज़ैनब, २७—काँधे, २८—पगड़ी, २९—झंडे के नीचे।

गरदाने[1] दामनों को क़बा के वो गुलअज़ार[2] मिफ़क़[3] तक आस्तीनों को उलटे बसद-विक़ार
जाफ़र का रोब दब्दबए-शेरे-किरदगार[4] बूटे से उनके क़द प नमूदारो-नामदार
आँखें मलीं अलम के फरैहरे को चूम के
रायत[5] के गिर्द फिरने लगे झूम-झूम के

गह[6] माँ को देखते थे, गहे जानिबे-अलम नारा कभी ये था कि निसारे-शहे-उमम
करते थे दोनों भाई कभी मशविरे बहम आहिस्ता पूछने लगे माँ से वो ज़ी-हशम[7]
क्या क़स्द[8] है अली-ए-वली के निशान का
अम्माँ किसे मिलेगा अलम नाना जान का

कुछ मशविरा करें जो शहनशाहे-ख़ुश-ख़िसाल[9] हम भी मुहिक़[10] हैं आप को इसका रहे ख़याल
पासे-अदब से अर्ज़ की हमको नहीं मजाल इसका भी ख़ौफ़ है कि न हो आप को मलाल
आक़ा के हम ग़ुलाम हैं और जाँ-निसार हैं
इज़्ज़त तलब हैं, नाम के उम्मीदवार हैं

ज़ैनब ने तब कहा तुम्हें, इससे क्या है काम क्या दख़्ल मुझको मालिको-मुख़्तार हैं इमाम
देखो न कीजो बेअदबाना कोई कलाम बिगड़ूँगी मैं जो लोगे ज़बाँ से अलम का नाम
लो जाओ बस खड़े हो अलग हाथ जोड़ के
क्यों आये तुम यहाँ अली अकबर को छोड़ के

सरको, हटो, बढ़ो, न खड़े हो अलम के पास ऐसा न हो कि देख लें शाहे-फ़लक-असास
खोते, हो और आये हुए मेरे हवास बस क़ाबिले-क़ुबूल नहीं है ये इल्तिमास[11]
रोने लगो गे फिर जो बुरा या भला कहूँ
इस ज़िद को बचपने के सिवा और क्या कहूँ

इन नन्हें-नन्हें हाथों से उट्ठेगा ये अलम छोटे क़दों में सबसे, सिनों में सभों से कम
निकले तनों से सिब्ते-नबी[12] के कदम प दम ओहदा यही है, बस यही मंसब, यही हशम
रुख़सत-तलब अगर हो तो ये मेरा काम है
माँ सदक़े जाये आज तो मरने में नाम है

हाथों को जोड़-जोड़ के बोले वो लालाफ़ाम ग़ुस्से को आप थाम लें ऐ ख़ाहरे-इमाम[13]
वल्लाह क्या मजाल जो लें अब अलम का नाम खुल जायगा लड़ेंगे जो ये बावफ़ा ग़ुलाम
फ़ौजें भगा के गन्जे-शहीदाँ[14] में सोयेंगे
तब क़द्र होगी आपको, जब हम न होयेंगे

ये कहके बस हटे जो सआदत-निशाँ[15] पिसर[16] छाती भर आई माँ की कहा थाम कर जिगर
कहते हो अपने मरने की प्यारो मुझे ख़बर ठहरो ज़रा बलाएँ तो लेले ये नौहागर[17]
क्या सदक़े जाऊँ माँ की नसीहत बुरी लगी
बच्चो ये क्या कहा कि जिगर पर छुरी लगी

१—समेटे हुए, २— बच्चे, ३—कुहनी ४—ख़ुदा के शेर (अली) का दब्दबा, ५—झंडा ऊँची ६—कभी, ७—इज़्ज़त वाले, ८—इराया, ९—अच्छी आदत वाले बादशाह, १०—हक़दार, ११—विनती, १२—रसूल के नाती १३—इमाम हुसैन की बहन, १४—शहीदों का ख़ज़ाना, इमाम हुसैन ने सभी शहीदों की लाश एक जगह रख दी थी, उसका भी नाम है, १५—आज्ञाकारी, १६—बेटे १७—बैन करने वाली, दुखिया।

ज़ैनब के पास आके ये बोले शहे-ज़मन[१] क्यों तुमने दोनों बेटों की बातें सुनी बहन!
शेरां केशेर, आक़िलो-जर्रार,[२] सफ़शिकन[३] ज़ैनब वहीदे-अस्र[४] हैं दोनों ये गुलबदन[५]
यूं देखने को सब में बुज़ुर्गों के तौर हैं
तेवर ही इनके और इरादे ही और हैं

नौ-दस बरस के सिन में ये जुर्अत, ये वलवले बच्चे किसी ने देखे हैं ऐसे भी मनचले
इक़बाल क्योंकर इनके न क़दमों से मुँह मले किस गोद में बड़े हुये, किस दूध से पले
बेशक ये वरसादारे-जनाबे - अमीर[६] हैं
पर क्या करूँ कि दोनों की उम्रें सग़ीर[७] - हैं

अब तुम जिसे कहो उसे दें फ़ौज का अलम की अर्ज़, जो सलाहे - शहे-आसमाँ-हशम[८]
फ़रमाया जब से उठ गईं ज़हराए-बाकरम उस दिन से तुमको माँ की जगह जानते हैं हम
मालिक हो तुम, बुज़ुर्ग कोई हो कि ख़ुर्द हो
जिसको कहो उसी को ये ओह्दा सिपुर्द हो

बोलीं बहन कि आप भी तो लें किसी का नाम है किस तरफ़ तवज्जुहे-सरदारे-ख़ासो-आम
क़ुर्आँ के बाद है तो है बस आपका कलाम गर मुझसे पूछते हैं शहे-आसमाँ-मुक़ाम
शौकत में, क़द में, शान में, हमसर कोई नहीं
अब्बासे - नामदार से बेहतर कोई नहीं

आँखों में अश्क भरके ये बोले शहे-ज़मन हाँ थी यही अली की वसीयत भी ऐ बहन
अच्छा बुलाएँ आप किधर हैं वो सफ़शिकन अकबर चचा के पास गये सुन के ये सुख़न
की अर्ज़, इन्तिज़ार है शाहे - ग़यूर[९] को
चलिये फुफी ने याद किया है हुज़ूर को

अब्बास आये हाथों को जोड़े हुज़रे - शाह जाओ बहन के पास! ये बोला वो दीं-पनाह[१०]
ज़ैनब वहीं अलम लिये आयीं बइज़्ज़ो-जाह बोले निशाँ को लेके शहे - अर्श - बारगाह
इनकी ख़ुशी वो है, जो रिज़ा[११] पन्जतन[१२] की है
लो भाई, लो अलम, ये इनायत बहन की है

रखकर अलम प हाथ झुका वो फ़लक-विक़ार[१३] हमशीर[१४] के क़दम प मला मुँह बइफ़्तिख़ार[१५]
ज़ैनब बलायें लेके ये बोलीं कि मैं निसार अब्बास फ़ातिमा[१६] की कमाई से होशियार
हो जाये आज सुल्ह की सूरत, तो कल चलो
इन आफ़तों से भाई को लेकर निकल चलो

नागाह[१७] आके बाली सकीना[१८] ने कहा कैसा है ये हुजूम किधर हैं मेरे चचा
ओह्दा अलम का उनको मुबारक करे ख़ुदा लोगो मुझे बलायें तो लेने दो इक ज़रा
शौकत ख़ुदा बढ़ाये मेरे अम्मू जान की
मैं भी तो देखूँ शान अली के निशान की

१—दुनिया का बादशाह, इमाम हुसैन, २—अक़्लमन्द और बहादुर ३—फ़ौज के परे तोड़ने वाला, ४—अपने समय के सबसे अच्छा आदमी, ५—फूल की तरह जिस्म वाले, ६—हज़रत अली के वारिस, ७—छोटी, ८—आसमान के बराबर इज़्ज़त रखने वाले बादशाह (इमाम हुसैन) की राय, ९—आत्मसम्मान वाला बादशाह, १०—दीन को पनाह देने वाला, ११—रज़ामंदी १२—पाँच + तन = पैग़म्बर, अली, फ़ातिमा, हसन, हुसैन, १३—आसमान की तरह इज़्ज़त वाला, १४—बहन, १५—इज़्ज़त के साथ, १६ —रसूले-इस्लाम की बेटी और इमाम हुसैन की माता, १७—इकबारगी, १८—इमाम हुसैन की छोटी बेटी,

अब्बास मुस्कुरा के पुकारे कि आओ-आओ अम्मू[1] निसार प्यास से क्या हाल है बताओ
बोली लिपट के वो कि मेरी मश्क लेते जाओ अब तो अलम मिला तुम्हें, पानी मुझे पिलाओ
तोहफ़ा न कोई दीजे, न इन्आम दीजिये
क़ुर्बान जाऊँ पानी का इक जाम दीजिये

बातों प उसकी रोती थीं सैदानियाँ[2] तमाम की अर्ज़ आके इब्ने-हसन[3] ने कि या इमाम
अमबोह[4] है बढ़ी चली आती है फ़ौजे-शाम फ़रमाया आपने कि नहीं फ़िक्र का मुक़ाम
अब्बास अब अलम लिये बाहर निकलते हैं
ठहरो, बहन से मिलके गले हम भी चलते हैं

मौला चढ़े फ़रस[5] प मुहम्मद की शान से तरकश लगाया हरने प किस आन-बान से
निकला ये जिन्नो-इन्सो-मलक[6] की ज़बान से उतरा है फिर ज़मीन प बुराक़[7] आसमान से
सारा चलन ख़िराम[8] में कब्केदरी[9] का है
घूँघट नई दुल्हन का है, चेहरा परी का है

स्से में अँखड़ियों के उबलने को देखिये बन-बन के झूम-झूम के चलने को देखिये
ाँचे में जोड़-बन्द के ढलने को देखिये थम कर कनौतियो के बदलने को देखिये
गर्दन में डालें हाथ ये परियों को शौक़ है
बालावरी में इसको हुमा[10] पर भी फ़ौक़[11] है

र्मी का रोज़े-जन्ग की क्यों कर करूँ बयाँ डर है कि मिस्ले-शम्अ न जलने लगे ज़बाँ
ो लूँ कि अलहज़र[12] वो हरारत कि अल्लमाँ[13] रन की ज़मीं तो सुर्ख़ थी और ज़र्द आसमाँ
आबे-ख़ुनुक[14] को ख़ल्क़ तरस्ती थी ख़ाक पर
गोया हवा से आग बरसती थी ख़ाक पर

ाबे-रवाँ से मुँह न उठाते ये जानवर जंगल में छिपते फिरते थे तायर[15] इधर-उधर
र्दुम[16] थे सात परदों के अन्दर अरक़ में तर ख़सख़ानए-मिज़ह[17] से निकलती न थी नज़र
गर चश्म से निकल कर ठहर जाये राह में
पड़ जायें लाख आबले पाये-निगाह में

र उठते थे न धूप के मारे कछार से आहू न मुँह निकालते थे सब्ज़ाजार से
ाईना मेहर का था मुकद्दर ग़ुबार से गर्दूं[18] को तप चढ़ी थी ज़मीं के बुख़ार से
गर्मी से मुज़तरिब था ज़माना ज़मीन पर
भुन जाता था जो गिरता था दाना ज़मीन पर

न, धूप में खड़े थे अकेले शहे-उमम[19] न दामने-रसूल था, न सायए-अलम
ाले जिगर से आह के उठते थे दम-बदम ऊदे थे लब, ज़बान में काँटे, कमर में ख़म
बे-आब तीसरा था जो दिन मेहमान को
होती थी बात-बात में लुकनत ज़बान के

१—चाचा, २—रसूल के घराने की औरतें, ३—इमाम हसन के बेटे, ४—मजमा, ५—घोड़े, —इन्सान, जिन्नात और फ़रिशते ७—आसमानी घोड़ा, ८—चलना ९—चकोर, १०—एक ल्पनिक पंछी, जिसके लिये कहा जाता है कि वह जिसके सर पर बैठ जाय वह बादशाह हो जाय, —श्रेष्ठ, १२—अल्लाह बचाये, १३—अल्लाह की पनाह, १४—ठंडा पानी, १५—पंछी, —पुतिलियाँ, आदमी, १७—आँख की बरौनी का ख़सख़ाना, १८—आसमान, १९—दुनिया ों का बादशाह।

वो धूम तब्ले-जंग[1] की, वो बूक़[2] का ख़रोश[3]   कर हो गये थे शौक़ से करौंबियों के गोश[4]
धर्राई यूँ ज़मीं कि उड़े आसमाँ के होश   नेज़े बला के निकले सवाराने - दुर्अ-पोश
ढालें थीं यूँ सरों प सवाराने - शूम[5] के
सहरा में जैसे आये घटा झूम - झूम के

आये हुसैन यूँ कि अक़ाब[6] आये जिस तरह   आहू[7] प शेर-शरज़ाए-ग़ाब[8] आये जिस तरह
ताबनदा[9] बर्क़ सूए-सहाब[10] आये जिस तरह   दौड़ा फ़रस[11] नशेब[12] में आब आये जिस तरह
यूँ तेग़े - तेज़ कौंद गई उस गिरोह पर
बिजली तड़प के गिरती है जिस तरह कोह पर

जिस पर चली वो तेग़ दोपारा[13] किया उसे   खिंचते ही चार टुकड़े दोबारा किया उसे
वाँ थी जिधर अजल[14] ने इशारा किया उसे   सख़्ती भी कुछ पड़ी तो गवारा किया उसे
नै ज़ीन था फ़रस प, न अस्वार ज़ीन पर
कड़िया ज़िरह[15] की बिखरी हुई थीं ज़मीन पर

दुशमन जो घाट पर थे, तो धोये थे जाँ से हाथ   गर्दन पे सर अलग था जुदा थे अनाँ[16] से हाथ
तोड़ा कभी जिगर कभी छेदा सिनाँ[17] से हाथ   जब कट के गिर पड़ें तो फिर आयें कहाँ से हाथ
अब हाथ दस्तयाब नहीं मुँह छिपाने को
हाँ पावँ रह गके हैं फ़क़त भाग जाने को

गर्मी में प्यास थी कि फुँका जाता था जिगर   उफ़-उफ़ कभी कहा कभी चेहरे प ली सिपर[18]
आँखों में टीस उठी, जो पड़ी धूप पर नज़र   झपटे कभी इधर, कभी हम्ला किया उधर
कसरत अरक़[19] के क़तरों की थी रूए-पाक[20] पर
मोती बरसते जाते थे मक़्तल[21] की ख़ाक पर

अल्लाह री लड़ाई में शौकत जनाब की   सौंलाए रंग में थी ज़िया[22] आफ़ताब की
सूखे वो लब कि पंखड़ियाँ थीं गुलाब की   तस्वीर ज़ुलजनाह[23] प थी बूतराब[24] की
होता था ग़ुल जो करते थे नारे लड़ाई में
भागो कि शेर गूँज रहा है तराई में

फिर तो ये ग़ुल हुआ कि दुहाई हुसैन की   अल्लाह का ग़ज़ब है, लड़ाई हुसैन की
दरया हुसैन का है, तराई हुसैन की   दुनिया हुसैन की है, ख़ुदाई हुसैन की
बेड़ा बचाया आपने तूफ़ाँन से नूह का
अब रहम वास्ता अली अकबर की रूह का

आई सदाए-ग़ैब[25] कि शब्बीर मरहबा[26]   इस हाथ के लिये थी ये शमशीर, मरहबा !
ये आबरू, ये जंग, ये तौक़ीर, मरहबा !   दिखला दी माँ के दूध को तासीर मरहबा !
ग़ालिब किया ख़ुदा ने तुझे कायनात पर
बस ख़ात्मा जिहाद का है तेरी ज़ात पर

१— जंग का ढोल, २— जंग की तुरुही, ३— तेज़ी, ४— कान, ५— बुरे सवार, ६— बाज़, ७— हिरनी, ८— जंगल का भयानक, ९— चमकदार, १०— बादल की तरफ़, ११— घोड़ा, १२— नीचाई, १३— दो टुकड़े, १४— मौत, १५— जंग में पहनने का कपड़ा, १६— लगाम, १७— बरछी, १८— ढाल, १९— पसीना, २०— पाक चेहरा, २१— क़त्ल होने की जगह, २२— रौशनी, २३— दुलदुल, २४— हज़रत अली २५— ख़ुदाई आवाज़, २६— शाबाश।

लब्बैक कहके तेग़ रखी शाह ने म्यान में पलटी सिपाह, आई क़ियामत जहान में
फिर सरकशों ने तीर मिलाय कमान में फिर खुल गये लपट के फरहरे निशान में
बेकश हुसैन ज़ुल्म - शआरों में घिर गये
मौला तुम्हारे लाख सवारों में घिर गए

सीने प सामने से चले दस हज़ार तीर छाती प लग गये कई सौ एक बार तीर
पहलू के पार बरछियाँ, सीने के पार तीर पड़ते थे दस, जो खींचते थे तन से चार तीर
यूँ थे ख़ुज़ंग[1] ज़िल्ले-इलाही[2] के जिस्म पर
जिस तरह ख़ार[3] होते हैं साही के जिस्म पर

चलते थे चार सम्त से भाले हुसैन पर टूटे हुये थे बरछियों वाले हुसैन पर
क़ातिल थे ख़ंजरों को निकाले हुसैन पर ये दुख नबी की गोद के पाले हुसैन पर
तीरे-सितम निकालने वाला कोइ न था
गिरते थे और संभालने वाला कोइ न था

बिन्ते-अली[4] तो पीटती फिरती थी नंगे सर कटता था नूरचश्मे-अली[5] का गला उधर
ज़ैनब को मन्आ करते थे हर चन्द अहलेशर[6] लेकिन वो दोड़ी जाती थी थामे हुये जिगर
पहुँची जो क़त्ले-गाह में इस रोक-टोक पर
देखा सरे - हुसैन को नेज़े की नोक पर

नेज़े के नीचे जाके पुकारी वो सोगवार सैय्याद तेरी लहू भरी सूरत के मैं निसार
है है गले प चल गई भैय्या छुरी की धार भूले बहन को ऐ असदे-हक़[7] के यादगार
सदक़े गई लुटा गये घर वादा-गाह[8] में
जुंबिश लबों को है अभी ज़िक्रे-इलाह में

भैय्या मैं अब कहाँ के तुम्हें लाऊँ, क्या करूँ क्या कहके अपने दिल को समझाऊँ, क्या करूँ
किसकी दुहाई दूँ किसे चिल्लाऊँ, क्या करूँ बस्ती पराई है मैं किधर जाऊँ, क्या करूँ
दुनिया तमाम उजड़ गई वीराना हो गया
बैठूँ कहाँ कि घर तो अज़ाख़ाना[9] हो गया

है है तुम्हारे आगे न ख़्वाहर[10] गुज़र गई भैय्या बताओ क्या तहे-ख़ंजर[11] गुज़र गई
आई सदा न पूछो जो हम प गुज़र गई सदशुक्र जो गुज़र गई बेहतर गुज़र गई
सर कट चुका हमें तो अलम[12] से फ़राग़[13] है
गर है तो बस तुम्हारी जुदाई का दाग़ है

बस ऐ 'अनीस' ज़ोफ़[14] से लर्ज़ां[15] है बन्द-बन्द आलम को यादगार रहेंगे ये चन्द बन्द
निकले क़लम से ज़ोफ़ में क्या-क्या बलन्द बन्द आलम पसन्द बन्द हैं, सुल्ताँ पसन्द बन्द
ये फ़स्ल और ये बज़्मे-अज़ा[16] यादगार है
पीरी के वलवले हैं, ख़िज़ाँ की बहार है

१—तीर, २—ख़ुदा की परछाईं इमाम हुसैन, ३—काँटा, ४—अली की बेटी, ज़ैनब, ५—अली का बेटा, इमाम हुसैन, ६—बुराई करने वाले, ७—ख़ुदा के शेर, अली, ८—वादा पूरा करने वाले मैदान, ९—ग़म का घर, १०—बहन, ११—तलवार के नीचे, १२—दुख, १३—फ़ुरसत, १४—कमज़ोरी, १५—काँपते, १६—शोक सभा।

नई किताबें

प्रो० एहतेशाम हुसैन

प्रेमचन्द ने एक जगह अपनी जीवन-कहानी लिखते हुए कहा था कि मेरा जीवन बिल्कुल सपाट है। इसमें न तो ऊँचे पहाड़ हैं, न गहरी घाटियाँ : इसे केवल उनके सहज स्वभाव और सरल जीवन की ओर एक ऐसा संकेत समझना चाहिए, जो ऊपर से स्थिर और सपाट दिखाई देता है परन्तु उसमें अन्दर ही अन्दर तूफ़ानी लहरें पाई जाती हैं। इसमें संदेह नहीं कि साधारण दृष्टि से दूसरे लोगों को भी यही प्रतीत होगा मगर जो व्यक्ति अमृत राय की लिखी हुई इस जीवनी का अध्ययन करेगा, उसे ज्ञात होगा कि एक रचनात्मक लेखक अपने एक जीवन में कितने जीवन रखता है और अपने भावों की दुनिया में किस-किस प्रकार से दुख झेलता, तड़पता, हँसता-खेलता, जीता और मरता है। इस प्रकार से यह रचना केवल उस प्रेमचन्द की कहानी नहीं है, जो १८८० ई० में में पैदा हुआ और १९३६ ई० में इस दुनिया से चला गया बल्कि उस प्रेमचन्द की कहानी है, जिसने जीवन भर अपने आदर्शों के लिए संघर्ष किया और समाज के हित को अपने हित के ऊपर रखा, जिसने डट कर उस जीवन का मुक़ाबिला किया, जो एक लेखक से उसकी रचनात्मक शक्ति छीन लेती है या आदर्शों के साथ समझौते पर मजबूर करता है। सच यह है कि अमृत राय ने अपने पिता प्रेमचन्द की जीवन कहानी नहीं लिखी है वरन् उस प्रेमचन्द को प्रस्तुत किया है, जिसके क़लम ने पहले दिन से आख़िरी दिन तक सामाजिक पतन, लोभ, ईर्ष्या, साम्प्रदायिक संकीर्णता, अत्याचार, अन्याय और वर्गशोषण के विरुद्ध संग्राम किया। इस रचना को पढ़कर प्रेमचन्द के व्यक्तित्व के वह सारे पहलू हमारे सामने आ जाते हैं, जिन्होंने उनको हिन्दी-उर्दू का सर्वश्रेष्ठ लेखक बना दिया।

प्रेमचन्दः क़लम का सिपाही

[*लेखक : अमृत राय* ● *प्राप्ति-स्थान : हंस प्रकाशन, इलाहाबाद* ● *मूल्य : बीस रुपये*]

मेरा विचार है कि हिन्दी में अच्छे जीवनी साहित्य का अभाव है, कला की दृष्टि से जीवनी लिखना स्वयं एक रचनात्मक सृष्टि है। जीवन की कुछ घटनाएँ, कुछ पूर्वजों, नातेदारों और दोस्तों का हाल, पत्रों और लेखों से संकलन किए हुए कुछ विचार और जीवन-कार्य के सम्बन्ध में कुछ आंकड़ों को एकत्र कर देने का काम ही

जीवनी नहीं है। अमृत राय इस बात को अच्छी तरह जानते थे, उनके सामने यूरोप के लेखकों की जीवनियाँ और आत्मकथाएँ भी थीं। इसलिए उन्होंने अपनी पुस्तक का रूप भी वही रक्खा। इसमें न तो उस अन्वेषण की कमी है, जो ऐसी रचना के लिए अनिवार्य है और न उस दृष्टि की, जो बिखरी हुई सामग्रियों के भीतर-भीतर दौड़ती हुई उस धारा को देख लेती है, जो किसी व्यक्ति को एक सम्पूर्ण एकाई के रूप में ढाल लेती है। प्रेमचन्द के बेटे होने के नाते न तो वह उस हार्दिक सम्बन्ध से विमुख

यह उचित ही है कि उस प्रेमचन्द की जीवनी ऐसी भाषा में लिखी जाय, जिसके सम्बन्ध में आज फिर यह कहा जासके कि काश हम भी ऐसी भावपूर्ण, सरल और सशक्त भाषा लिख सकते !

यह सब कहने के बाद यह कह देना भी आवश्यक है कि इसमें कुछ ऐसी त्रुटियाँ भी रह गई हैं, जिन्हें अगले संस्करण में दूर हो जाना चाहिए। कुछ तो उर्दू शब्दों के उच्चारण ठीक नहीं हैं, जैसे तजज़्ज़ब (तअ़ज्जुब) तुअन्‌ओ करहन (तौअनो-करहन) (कोतहुस्रास ?) इत्यादि।

हुए हैं जो स्वाभाविक है और न जान-बूझकर घटनाओं और परिस्थितियों को इस इस प्रकार तोड़ा-मरोड़ा है कि उससे जो नतीजा वह निकालना चाहते हैं, वही निकले। इस सतुलित दृष्टि के लिए उन्हें जितना भी सराहा जाय कम है।

साहित्य के जीवनी साहित्य की दृष्टि से भी, एक विशेष प्रकार की कलात्मक शक्ति चाहती है। इसका अर्थ यह है कि लेखक को पग-पग पर जीवन के रिद्म को अपनी रचना के रिद्म से मिलाए रखना पड़ता है। उसका सबसे बड़ा साधन सार्वजनिक भाषा का योग है। प्रेमचन्द की भाषा के लिए मौलाना 'शिबली' ने बड़ी हसरत से यह कहा था कि काश मैं ऐसी भाषा (उर्दू) लिख सकता !

एक जगह यह विचार प्रकट किया गया है कि 'करबला' नाटक उर्दू में पुस्तक रूप में कभी छपा ही नहीं। यह बात भी ठीक नहीं है। यह एक से अधिक बार छप चुका है। कहीं-कहीं यह भी अनुभव होता है कि लेखक ने भारतवर्ष के राजनीतिक वातावरण का उल्लेख इतना विस्तार किया है कि उससे प्रेमचन्द की जीवनघटनाओं की कड़ियाँ एक दूसरे से दूर जा पड़ती हैं और पढ़ने वाले को उन्हें मिलाने की प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

फिर भी यह कहा जा सकता है कि केवल हिन्दी में ही नहीं उर्दू में भी ऐसी रोचक और प्रभावशाली जीवनी अभी तक नहीं लिखी गयी।

हिन्दी कहानियाँ और फ़ैशन

[*लेखक : उपेन्द्रनाथ अश्क • प्राप्ति-स्थान : नीलाभ प्रकाशन इलाहाबाद • मूल्य चार रुपये*]

उपेन्द्रनाथ अश्क उन कहानीकारों में हैं, जो केवल कहानियाँ लिखते ही नहीं, उनकी परख भी करते हैं। वैसे तो उनके बहुत से लेख साहित्यिक विषयों पर छप चुके हैं किन्तु उनकी यह नयी रचना कहानी-आलोचना साहित्य में एक चुनौती के रूप में हमारे सामने आयी है। थोड़े-थोड़े समय पर ही साहित्य में परिवर्तन ही नहीं प्रयोग भी होते रहते हैं। ऐसा होना भी चाहिए। नहीं तो साहित्य एक ही घेरे में सीमित होकर रह जायगा

किन्तु न तो हर परिवर्तन और प्रयोग सराहनीय है और न उसकी ओर से यह सोच कर आँखें मूँद लेना ही उचित है कि हमारी साहित्यिक परम्परा से उसकी बातें मेल नहीं खातीं। अश्क ने इसी आदर्श को सामने रखकर हिन्दी में लिखी जाने वाली कहानियों का पोस्टमार्टम किया है। उन्होंने सैकड़ों कहानियाँ पढ़कर और बहुत से नये कहानीकारों से बातचीत करके यह अनुभव किया कि बहुधा लिखने वाले उचित ढंग से अपनी अनुभूतियों को प्रस्तुत करने या उन्हें जीवन के अन्य रूपों से कलात्मक तादात्म स्थापित करने में असमर्थ रहे हैं। उन्होंने केवल एक दूसरे की देखा-देखी में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की हैं, जो वास्तविकता से बहुत दूर जा पड़ी हैं। इसलिए ये जन-साधारण को प्रभावित नहीं करतीं। यह सारी बातें विचारणीय हैं। यदि साहित्य और विशेषकर कथा-साहित्य का उद्देश्य यह है कि उसे बहुत थोड़े से बुद्धजीवी समझें और उसमें छिपी हुई कलात्मक क्षमता पर झूम जायें, तो अवश्य नये प्रयोगों की, चाहे वह जैसे हों, सराहना की जा सकती है; परन्तु अगर कथाकार का समाज के प्रति कुछ उत्तरदायित्व भी है, उसे अपनी वाणी को दूसरों की वाणी बनाना भी है, अपने निजी और व्यक्तिगत अनुभवों को जन-जीवन से सम्बन्धित करना है, तो अश्क ने जो प्रश्न उठाये हैं, उन पर विचार करना ही होगा। यह आवश्यक नहीं है कि हर कहानी के सम्बन्ध में हम उनसे सहमत हों किन्तु जिस उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गयी है, उसका आज के वातावरण में एक महत्त्व है।

अश्क ने कहीं-कहीं कटुव्यंग से काम लेकर अपने बहुत गम्भीर विचारों को नुक़सान पहुँचाया है, नहीं तो वह लोग भी उनकी बातों पर सोचने और समझने पर मजबूर होते जो उनके तीखे नश्तर का शिकार हुए हैं। पूरे लेख में जो कहीं-कहीं हल्की-सी झुंझलाहट है, यदि वह न होती तो इसका महत्त्व और बढ़ जाता।

अनिल कुमार, व्यवस्थापक, द्वारा विश्वविद्यालय प्रेस, इलाहाबाद में मुद्रित
और 'डगर' कार्यालय : १८-ए महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद से प्रकाशित
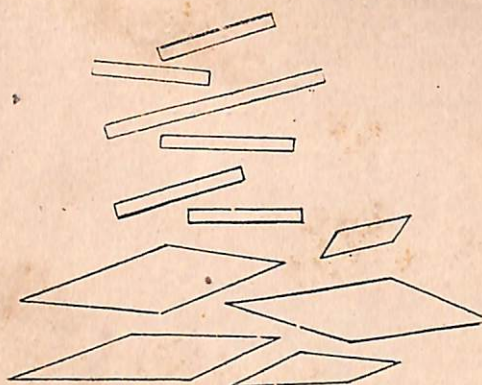
DAGAR, ALLAHABAD-1.
Vol. I, No. 10—June, 1965.

Per Copy : 75 Paise
Regd. No: L-44.